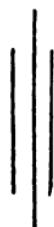




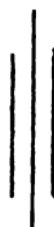
जैन गीता

समातर्व / समीक्षा हेतु / मेट
रत्नचंद्रभाष्य
प्रकाशक / सम्पादक



रचयिता

श्री १०८ आचार्य विद्यासागर जी महाराज



प्रकाशक

श्री रत्नचंद जी भायजी
दमोह (म. प्र.)



मनोभावना—

आचार्य श्री विद्यासागर जी

समाधान—

श्री विनोदा जी, पवनार (वर्धा)

अद्वामुषन—

मिष्ठई गुजारावचद, दमोह

प्रकाशक—

रत्नचद जी भायजी, दमोह (म. प्र.)

संस्करण—

प्रथम १०००, अप्रैल १९७८

मुद्रक—

महेन्द्र प्रिन्टर्स

सराफा, जबलपुर

फोन : २०२६३

मनोभावना

विगत वीस मास पूर्व की बात है, राजस्थान स्थित प्रतिशय क्षेत्र महावीर जी में महावीर जयन्ती के मुग्रवसर पर मन्दिर में उपस्थित था। उम ममण ममण सुत्तम का, जो मंदि मेवा मंद वाराणसी में प्रकाशित है, विमोचन हुआ। यह एक सर्व मान्य मंकलित ग्रन्थ है। इसके मंकलनकर्ता जिनेंद्र वर्णी जी स्व. श्री गणेशप्रमाद जी वर्णी के अभन्न शिष्यों में एक हैं। आपने जैन मिदान्त का अवलंकरण करके यह नव गीता ममाज के मामने प्रस्तुत किया है। आपका यह कार्य प्रेरणाप्रद एवं स्तुत्य है।

इस ग्रन्थ में चारों अनुयोगों के विषय यथास्थान चिह्नित हैं। अध्यात्मरम में ओन-प्रोत ग्रन्थराज ममयमार, प्रवचन मार, नियममार, आटपाहुणि पंचाम्निकाय, द्रव्य मग्रह, गोमटमार आदि ग्रन्थों की गाथाये इसमें प्रबुर हृषि में मकलिन हैं। यह ग्रन्थ ग्राद्योगान्त प्राकृत गाथाओं से भयादित है। प० कैलागच्छ जी भिद्वाल्लाकार्य ने इस ग्रन्थ का मंधेप विन्दु मुन्दर गद्यानुवाद किया है। जो जैन प्राकृत भाषा में अनभिज्ञ हैं उन्हें यह ग्रन्थ गत विषय को ममझते में अमूर्ण महायक है।

ममणसुत्तम के मूल प्रेरणा-स्रोत ममाज मेंकी मंदि मेवा-मंद के निर्माता विनेदा जी (बावा) हैं। पच्चीमवाँ द्वीर निर्वाण महोन्मिव के उपनक्ष में जैन ममाज में आपने माँग की थी। यद्यपि जैन माहिन्य विपुल मात्रा में है तथापि उसमें मब लोग लाभ नहीं पा रहे हैं। अतः ममाज के मम्मुख एक ऐसी कृति प्रस्तुत की जाय कि जिसमें जैनतर भी जैन दर्शन में आन्मोश्रति कर सके। वह कार्य आज मानद सम्पन्न हुआ।

मन में बहुत काल में करवटें ले रहा था कि एक ऐसा काव्य ग्रन्थ का निर्माण किया जाय कि आबाल, बृद्ध उस ग्रन्थ के मंगीत के माध्यम से अल्प काल में ही पढ़कर जैन दर्शन की उपयोगिता एवं ध्रुव विन्दु के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त कर सकें और जीवन को समुद्रन बना सकें। किन्तु काल-लक्ष्य के बिना भी कोई कार्य नहीं हो सकता और पुरुषार्थ से मुख मोड़कर काल लक्ष्य की प्रतीक्षा करने में भी काल-लक्ष्य नहीं आ सकती है। इसी बीच बनारम के दो पत्रों के माध्यम से समणसुत्तम के

पद्यानुवाद के लिए प्रेग्ना प्राप्त हुई । एक पत्र था श्रीमान् पं० जगनालाल जी शास्त्री का एवं दूसरा था श्री कृष्णगज मेहना जी का ।

शुभम्य शीघ्र इस मूल्कि को चरितार्थ करते हुये गुरु स्मृति के साथ ग्रन्थ का पद्यानुवाद प्रारम्भ किया । तीन चार स्थलों में गाथागत ग्रहस्य को समझने में पंडित कैलागच्छन्द जी कृत गद्यानुवाद ने दीपक का काम किया है । किन्तु यह अनुमान नहीं था कि श्रनुवाद (पद्यानुवाद) इतने अल्प काल में मम्पन्न होगा । पद्यानुवाद में केवल माडे मात माम लगे और मिठाक्षेत्र कुण्डनगिरि पर मानन्द मम्पन्न हुआ जो पाठकों के मम्मुख जैन गीता के रूप में प्रस्तुत है ।

जैन यह आज तक कई श्रीमानों, धीमानों एवं मनों की दृष्टि में भी जाति वाचक ही रहा है जबकि वह उम महज अजर अमर अमूर्त आत्मा की ओर मुमुक्षुओं को ग्राहक्ष पर्करता है । विषय कथायों में ऊपर उठाकर उन्हें परम शार्ति पथ का प्रदर्शन करता है । जैन शब्द की उत्पत्ति इम प्रकार है । जर्यानि स्वकी यानि दण्डियाणि आत्मनि स जिन जिन एवं जैन इनि । जो महापुर्ण अपनी दण्डियाँ एवं आत्मा को पूर्ण-मरण जीतता है, उन्ह कुमारं में बचाता है वह जिन है, जिन ती जैन है, जैन का गी अर्थात् वाणी और उस गी का भाव या मार के अर्थ में ना प्रत्यय का प्रयोग करने में गीता शब्द की निष्पत्ति होती है । अत यह मुस्पष्ट हुआ कि उन जिनेन्द्र भगवान की वाणी के मार का नाम ही जैन गीता मिठ है ।

पौदगलिक परणति स्व शब्दों में ही न उनभकर शब्दावबोध में अर्थात् बोध एवं अर्थावबोध में उम परम केन्द्र बिन्दु का भी भवगम प्राप्त कर उस तक जाने का माध्यको वो मनन् प्रयास करने रहना चाहिये । इसी उद्देश्य को अपनी दृष्टि में खड़कर माध्यना पथारूढ़ माध्यको मनों ने स्व पर बल्याण हेतु मित मिष्ट वचनों में हमें उम महज चेननाभाव सत्ता का उपदेश दिया है और आजीवन उस परम सत्ता का मनन मरण कर नवनीत के स्व में विपुल माहित्य का निर्माण किया है ।

भर भर करता भरना, बहना चल चल चलना ।

उस सत्ता से मिलना, पुनि पुनि पडे न चलना ॥

सखना तज कर लिखना सहज शुद्धात्मा को अभीष्ट नहीं था तथापि चिरानुभूत मंकल्प-विकल्प के मंसकार ने चंचल मन को लिखने के

विकल्प की ओर आकृष्ट किया, फनस्वरूप आध्यात्मर परणति छूटी और वहि: पञ्चति प्रवाहित हुई। क्षद्मवस्था का मनोबल इतना निबंल है कि वह अन्तर्दून के उपरान्त अपने चंचल स्वभाव का परिचय दिये बिना नहीं रहता। इसी से मन ने प्रस्तुत कृति लिखने का विकल्प किया, यह भी समयोचित ही हुआ। आगम उल्लेख है कि विषय कपाय रूप अशुभ उपयोग से बचने के लिये सहज स्वभाव रूप शुद्धोपयोग की उपलब्धि के लिये तत् माधनभूत शुभोपयोग का आलंबन लेना मुनियों सतपथ साधकों एवं मतों के लिये भी मामिक उपादेय है ही। अतः मनोभावना यही है कि अध्यात्मरस से परिगृहित इस कृति का मनोयोग में आस्वादन कर भव्य पाठक परम नृति का अनुभव करे !

ममता अरुणिमा बढ़ी,
उभत शिखर पर चढ़ी !
निज दृष्टि निज में गढ़ी,
धन्यतम है यह घड़ी ।

यह सब स्व वयोवृद्ध तपोवृद्ध एवं ज्ञान वृद्धाचार्य गुह श्री ज्ञानमागर महाराज जी के प्रमाद का परिणाम है कि परोक्ष रूप से उन्हीं के अभय चिह्नित करने के मौलिकों में जैन गीता का समर्पण करता हुआ………।

गुह चरणार्घविदचंचरीक
ॐ शुभान्मने नमः
ॐ निरंजनाय नमः
ॐ श्री जिनाय नमः
ॐ निजाय नमः

समाधान

(विनोदा)

मेरे जीवन में मुझे अनेक समाधान प्राप्त हुए हैं। उसमें ग्रामिणी, अन्तिम समाधान, जो शायद मर्वोन्म समाधान है, इसी साल प्राप्त हुआ। मैंने कई दफा जैनों में प्राथमिकता की थी कि जैसे वैदिक धर्म का सार गीता में सात सौ लोकों में मिल गया है, बीढ़ों का धर्मपद में मिल गया है, जिसके कारण दाई हजार साल के बाद भी बुद्ध का धर्म लोगों को मालूम होता है, वैसे जैनों का होना चाहिए। यह जैनों के लिए मुट्ठिकल बात थी, इसलिए कि उनके अनेक पन्थ हैं और ग्रन्थ भी अनेक हैं। जैसे बाइबिल है या कुरआन है, कितना भी बड़ा हो, एक ही है। लेकिन जैनों में द्वेषताम्बर, द्विगम्बर ये दो हैं, उसके अनावा तेगपन्थी, स्थानकवासी और मुख्य पन्थ तथा दूसरे भी पन्थ हैं। और ग्रन्थ तो बीम-पञ्चीस है। मैं बार-बार उनका कहना रहा कि आप सब लोग, मुनिजन, इकट्ठा होकर चर्चा करों और जैनों का एक उनम, मर्वमान्य धर्मसार पेश करो। आखिर वर्णजी नाम का एक "वेवकफ" निकला और याबा की बात उसको जैव गयी। वे अध्ययनशील हैं। उन्होंने बहुत मेहनत कर जैन परिभाषा का एक कोश भी लिया है। उन्होंने जैन धर्मसार नाम की एक किनाब प्रकाशित की, उसकी हजार प्रतियाँ निकाली और जैन समाज में विद्वानों के पास और जैन समाज के बाहर के विद्वानों के पास भी भेज दी। विद्वानों के सुभावों पर मेरे कुछ गाथाएँ हटाना, कुछ जोड़ना, यह सारा करके जिणथर्म किनाब प्रकाशित की। फिर उस पर चर्चा करने के लिए बाबा के आग्रह में एक सरीनि बैठी, उसमें मुनि, आचार्य और दूसरे विद्वान, शावक मिलकर लगभग तीन सौ लोग इकट्ठे हुए। बार-बार चर्चा करके किर उसका नाम भी बदला, रूप भी बदला, आखिर मर्वनुमति से शमण-सूक्तम्—जिसे अधर्मसाधी में "समणमुत्त" कहते हैं, बना। उसमें ७५६ गाथाएँ हैं। ३ का आकड़ा जैनों को बहुत प्रिय है। ३ और १०८ को गुणा करो तो ७५६ बनता है। मर्वमर्मति में इतनी गाथाएँ नी। और तय किया कि चंत्र शुक्ल त्रयोदशी को वर्धमान-जयन्ती आयेगी, जे इस साल २४ अप्रैल को पड़ती है, उस दिन वह ग्रन्थ प्रत्यन्त शुद्ध रैनि से प्रकाशित किया जायगा। जयन्ती के दिन जैन धर्म-सार, जिसका नाम

“समणसुत्तं” है, सारे भारत को मिलेगा और आगे के लिए जब तक जैन, उनके धर्म वैदिक, बौद्ध इत्यादि जीवित रहेंगे तब तक “जैन-धर्म-मार्” पढ़ते रहेंगे। एक बहुत बड़ा कार्य हुआ है, जो हजार, पन्द्रह सौ माल मे हुआ नहीं था। उसका निमित्तमात्र बाबा बना, लेकिन बाबा को पूरा विश्वास है कि यह भगवान् महावीर की छुपा है।

मैं कबूल करता हूँ कि मुझ पर गीता का गहरा अमर है। उस गीता को छोड़कर महावीर से बढ़कर किसी का असर भेरे चित्त पर नहीं है। उसका कारण यह है, कि महावीर ने जो आज्ञा दी है वह बाबा को पूर्ण मान्य है। आज्ञा यह कि सत्याग्रही बनो। आज जहाँ-जहाँ जो उठा सो सत्याग्रही होता है। बाबा को भी व्यक्तिगत सत्याग्रही के नाते गौधी जी ने पेश किया था, लेकिन बाबा जानता था वह कौन है, वह सत्याग्रही नहीं, सत्यग्राही है। हर मानव के पास सत्य का अश होता है, इमनिए मानव-जन्म मार्यक होता है। तो सब धर्मों में, सब पन्थों में, सब मानवों में सत्य का जो अश है, उसको ग्रहण करना चाहिए। हमको सत्याग्रही बनना चाहिए, यह जो शिक्षा है महावीर की, बाबा पर गीता के बाद उसी का अमर है। गीता के बाद कहा, लेकिन जब दखना है तो मुझे दानों में फरक ही नहीं दीखता है।

**द्रष्टव्य-विद्या मन्दिर
पवनार (वर्धा)**

२५-१२-३६

गम हारि
गम हारि
गम हारि
हस्ताक्षर श्री विनोदा जी

श्री
श्रद्धा सुभन
जैन गीता के रचयिता

कर्नाटक प्रान्त के जिला बेंगलौर में जैन धर्मनुयायी श्री मल्लप्पा जी की धर्मपत्नी श्रीमती की दृश्य में जन्मे श्री विद्याधर जी जों कि दिग्म्बर दीक्षा लेकर १०८ आचार्य श्री विद्यासागर जी के नाम से इस समय भारत देश में यथानाम तथा गुण से प्रसिद्ध है इस ग्रन्थ के कर्ता है।

आपका जन्म ग्राम सदलगा में वि. स. २००३ आठवें सुक्ला पूर्णिमा को माता श्रीमती जी से हुप्रा था। आप अपने चार भाइयों सहित अपने घर में रहते थे। आप जब ९ वर्ष के थे, उसी समय में आपके मन में मनुष्य भव मार्थक करने की उच्छृंखला प्रभिलाप्ता थी, जिसके प्रतिफल में आचार्य शान्तिसागर जी के पास जाकर आपने उनके उपदेशामृत का पान किया और आपने इस करने वालों से विना पूँछे घर छोड़कर चल दिये। ग्रामधान में जयपुर नगर में आचार्य देवभूषण महाराज का समागम हो गया और आपने उनमें आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया।

ग्रामधान का भ्रमण करने-करने प्रजमेर में आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज के दर्शन हुये और आप उनके समागम में रहने लगे। आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के पास रहकर आपने जैन ग्रन्थों, काव्य ग्रन्थों एवं न्याय ग्रन्थों का भी अध्ययन किया। आपकी विद्याध्यन करने की लगत, बुढ़ि एवं प्रतिभा से प्रभावित होकर तथा आपकी वीतराग परणति को देखकर, आचार्य श्री ज्ञान श्री ज्ञानसागर जी महाराज ने प्रजमेर में दिनांक ३० जून १९६८ को आपको ब्रह्मचारी पद से सीधी मुनि दीक्षा प्रदान की। मुनि दीक्षा के समय आपकी आयु केवल २२ वर्ष की थी।

अनुकरणीय :

आपका पूरा परिवार एक भाई को छोड़कर सभी लोग माता जी, पिताजी तथा दो भाई एवं दो बहने में से मार्ग पर चल रही हैं। दो भाई

श्री १०५ गुलक योग सागर जी एवं श्री १०५ भुलक समय सागर जी आपके ही संघ में आत्म साधना में रत हैं तथा माताजी, पिताजी एवं दोनों बहिनें श्री १०८ आचार्य धर्मसागर जी के संघ में आत्म कल्याण कर रहे हैं ।

आपकी मातृभाषा कन्नड है, फिर भी बहुत ही अल्प समय में (सिर्फ पाँच वर्ष में) आपने मंस्कृत, हिन्दी, अङ्ग्रेजी, मराठी एवं प्राकृत भाषा पर अपना पूर्ण अधिकार जमा लिया । आज जनता जब आपके हिन्दी में प्रवचन मुनती है, तो दाँतों तले अङ्गुली दबाकर रह जाती है ।

मंस्कृत भाषा पर तो आपका विलक्षण अधिपत्य है । अच्छे-अच्छे व्याकरणाचार्य भी आपके मंस्कृत ज्ञान को देखकर चकित हो जाते हैं । आपने अपने अध्ययनकाल में इन भाषाओं का अध्ययन करने में उत्तम पुरुषार्थ एवं कठिन परिश्रम किया है । आप चौबीम घंटे में सिर्फ तीन घंटे इस शंगीर का विश्वास देने थे और इक्कीम घंटे निरन्तर विद्याध्ययन में लगे रहने थे । जिसका देखकर आचार्य श्री ज्ञानमागर जी भी आपको बार-बार चेताने थे कि इनना परिश्रम करना ठीक नहीं है, परन्तु आप अपनी लगन के पक्के थे जिसका प्रतिफल आज आपके सामने है, कि आप टम छोटी सी उम्र में ही विद्या के सागर बन गये हैं और आपने बहुत में ग्रन्थों की रचना की है। एवं कनिष्ठ ग्रन्थों के अनुवाद भी किये हैं ।

आपने मंस्कृत भाषा में 'श्रमण शतकम्', 'निरन्जन शतकम्', 'भावना शतक' आदि तथा हिन्दी में 'निजानुभव शतक', 'योग सार', 'ममार्थनत्र', 'इष्टोपदेश', 'गुरुभाव मनोव' आदि ग्रन्थों की पृष्ठ में रचना की एवं अनुवाद किया । 'श्रमण मुनम्' का हिन्दी अनुवाद आचार्य श्री ने जैन गीता के नाम में किया जो कि आपके हाथ में है । यह ग्रन्थ कुडलपुर में मन् १६३६ के चातुर्मासि में पूर्ण हुआ एवं सन् १६३७ के चातुर्मासि में समयमार की गाथाओं का हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ । इस ममय समयसार कल्प का हिन्दी अनुवाद समाप्त होने जा रहा है । दोनों ग्रन्थ आपके आन्म-हित करने में सहायक होने के लिए श्रीग्रातिशीघ्र आपके पास आने वाले हैं ।

इन मध्ये में आपकी आन्मानुभूति के साथ वीतरागता में नमय चिन्तन शंकी की भलक अनिश्चयता में प्राप्त होगी । प्रत्येक छंद में वीतरागता से आंत-प्रोत तथा निर्दोष काव्य के भी अपूर्व दर्शन होंगे ।

पहले में लिखने का एक ही कारण शाचायं श्री बनलाने हैं कि सभी पाठ्यकागण छांद को हमेशा गुनगुना लेकर हैं और याद भी कर लेकर हैं। आप भी जब अपने मृदु में इन छांदों को बोलते हैं तो मुनकर के श्रोतागण गदगद हों जाते हैं। सभी ग्रन्थों में दिये गये उदाहरण इस बात का प्रमाण है कि आपकी चिन्तन शैली विलक्षण है। आजकल भी आप स्वयं एवं आपके मंथ के एलक क्षुल्लकागण भी अपना अमूल्य समय ज्ञानाराधन में लगाते हैं। एक ध्यान भी व्यथा नहीं जाने देते। एक बार हमने कहा कि आप नांग तो जहरत में जायादा इस शर्मीर में कायं लेते हैं, इसको थोड़ा विश्राम भी नहीं देते, तो आचायं श्री बोले कि एक मेकन्ड भी यदि प्रमाद करे तो हमारी कई वयों की नपस्या नष्ट हो जाती है। इसलिये आप अपने उपयोग को पठाई में, शास्त्र लिखने में तथा तत्त्व चर्चा में ही लगाये रहते हैं। विशेष बात यह है कि आप श्रावकों से मात्र तत्त्व चर्चा ही करते हैं, अन्य कोई बात नहीं करते।

आचायं श्री की विशेषता है कि किसी भी प्रकार की तत्त्व चर्चा ही आप हमेशा प्रमध मुद्रा में ही चर्चा करते हैं, कभी भी आपकी मुद्रा में म्लानता नहीं आती। इस समय की प्रचलित विवादशृणु मान्यताओं जैसे निश्चय व्यवहार, गिरिष्ट उपादान, क्रमबद्ध पर्याय, दीनराग मध्यगदांन, सरगम मध्यगदांन, निश्चय चारित्र, शुद्धापर्याय, शुभापर्याय, स्वरूपाचरण, चारित्र का धारणनानुकूल निर्दोष चिन्तन चिन्हित समाधान बहुत ही मरण अच्छे एवं प्रकार्य उदाहरणों में परिपूर्ण भाषा में करते हैं कि श्रोता के हृदय में मीधे प्रवेश करके उसका समाधान बनते हैं। इन में कागणों से आचायं विद्यासागर जी को इस युग का समन्वय उद्धार जावे न। कार्ड अनिश्चयान्तर्क नहीं होंगी।

आप चारित्र पालन करने में भी चारित्र चूदामणि हैं। आप छनीम-छत्तीम घंटे तक समाधि में लीन रहते हैं। आप अपने मुनि दीक्षाकाल में ही चार रुद्रों का त्याग किये हुए हैं, मिष्ठि दो रुद्र (दही, दूध) को ही आप लेते हैं। आपके निर्दोष चारित्र पालन तथा ज्ञान एवं प्रवर्ग बुद्धि को देखकर ही आचायं श्री ज्ञानमागर जी महाराज ने स्वयं आचायं पद छांडकर आपको आचायं पद में विभूषित किया। जिनके गुरु में इन्हीं विलक्षण विनय-सम्पन्नता हो कि अपने शिष्य को ही आचायं पद देकर उनको नमस्कार किया होवे उनके शिष्य की विनय-सम्पन्नता भी अपूर्व ही

है। आप संघस्थ साधुओं से आचार पालन कराने में भी श्रीफल के समान ऊपर से कठोर कि तु अंतरण में अत्यन्त कोमल हैं। आचार्य श्री को आपने विष्यों की शिक्षा एवं उनके चरित्र पालन कराने आदि का भलीभांति ध्यान रहता है। आपने अपने गुरु आचार्य श्री ज्ञानसागर महाराज की सल्लेखना के समय जो अपूर्व सेवा की उसकी चर्चा सुनते ही आँखों में अशुधारा प्रवाहित हो जाती है।

आपने अपने रचित प्रन्थों में :

‘निजानुभव शतक’ में—आत्मानुभव के उपाय, आत्मानुभव के वाधक कारणों का ज्ञान एवं आत्मानुभव का फल ।

‘निर्जन शतक’ में—भगवान् भक्त और भक्ति की अपूर्व धारा प्रवाहित की है जिसमें भक्त स्वानुभूति के ढारा भगवान् में अभेद हो जाता है और द्वंत समाप्त हो जाता है।

‘भावन शतक’ में—मोलह कारण भावनाओं का अपूर्व चिन्तनपूर्ण भावों का प्रदर्शन किया है। इन भावनाओं के मनन एवं अनुभवन के ढारा अगले भवों में तीर्थकर प्रकृति का वध हो जाना काँई बड़ी बात नहीं है।

आचार्य श्री के बारे में जो भी लिखा जावे सूर्य को दीपक दिवाने के समान होगा। आपकी प्रतिभा एवं अमणोनम वृनि को देवकर श्रावकों का ममत्व बगवन आपके चरणों से भ्रुक जाता है। आपके मन में एक ही बात ममायी है कि जिस प्रकार मैं मोक्ष प्राप्ति के मार्ग में अग्रसर हो गया हूँ उसी प्रकार इस ममार के मनुष्य विषय वामना की भूमी चकानों को छोड़कर मोक्षमार्ग में लग जावे। ऐसी आपकी अनुकूल्या युक्त उत्तम भावना है जिसे देवकर ऐसा लगता है कि आप भी तीर्थकर प्रकृति का वध कर ही नहें। आपके दीनगणना में श्रोत-प्रोत एवं अमीम अनुकूल्या में भग्न प्रवचन मुनकर प्रत्येक ध्रुता को ऐसा लगने लगता है कि यह ममार क्षण-भंगुर एवं सारहीन है इसलिये आचार्य श्री के चरणों में गृह्णन आन्म-हित कर लिया जावे।

अपूर्व अवसर :

यह तो मिठ क्षेत्र कुण्डलपुर के बड़े बाबा की चुम्बकीय शक्ति श्री ही प्रभाव तथा हम लोगों का परम मौभाग्य है कि ऐसे बीनगणी परामर्शकानी

आचार्यानुभवी मंत्र अभ्यर्जन करने करते श्री दिलोसिंहकुण्डलपुर जी में बड़े बाबा के दर्शनार्थ आये, मात्र तीर्थ यात्रा करने। परन्तु हम मध्यप्रदेश वालों का सौभाग्य रहा कि बड़े बाबा के चरणों में मन् १६७६ एवं मन् १६७७ ऐसे दो चातुर्मासी मानन्द बहुत शालीनता के साथ एवं अमृतवाणी की वर्षा के साथ सम्पन्न हुए और इन दो वर्षों में वीतनगरी मंत्र की वाणी एवं अभ्यर्जनम चर्या की हजारों लोगों ने कुण्डलपुर आकर मुना और देखा। इन दिनों में कुण्डलपुर जी में तो चतुर्थकाल का नजारा देखने वनना था। ऐसा नजारा था कि आचार्य श्री के चरणों में साग जीवन ममाल होंवे और सम्यक्त्व का प्रकाश प्राप्त कर हम अपने मनुष्य भव को सफल करे। आचार्य श्री को चातुर्मास के बहुत निमत्रण आते रहते हैं। हम फिर भी आशा है कि अगला चानुमास भी श्री दिलोसिंहकुण्डलपुर जी में ही होंगा। नभी इसें जानचाहिए की एकता में सम्पन्न हम मन के समागम में हम लोग आत्म कल्याण के पथ पर ग्रोग आग बढ़ मतेंगे। श्री दिलोसिंहकुण्डलपुर जी में हजारों यात्रियों ने आकर आचार्य श्री के प्रवचनों का लाभ लिया है। जिसके कारण ही आचार्य श्री जहाँ भी बिहार चरने हैं वहाँ दर्शनार्थियों की अपार भीड़ आचार्य श्री के दर्शन करने एवं उनके मुह में निकले दा शब्द मुनने को आकुलित रहती है।

अन्त में बड़े बाबा में प्रार्थना है कि आपकी भक्ति के प्रभाव में हम पापका हृदय इनना नियंत्रित हो जावे कि उम हृदय में आचार्य श्री के चरण कमल तब तक रहे जब तक इस बीट का उद्धार न हो जावे तथा आपकी चृष्टवकीय शक्ति का इनना प्रसार होवे कि आचार्य श्री का बिहार कही भी होंवे परन्तु चानुमास हर बार कुण्डलपुर जी में ही होंवे।

इन शब्दों के साथ मैं इस अनुवाद ग्रन्थ के विद्वानों के हाथों समर्पित करता हूँ। इस भावना में कि इसे पढ़कर सब लोग आत्म-कल्याण के पथ पर अग्रसर होवे और ऐसी भावना करता हूँ कि आचार्य श्री विद्यामार्ग जी महाराज बहुत समय नव हमारा पथ प्रदर्शन करते रहे।

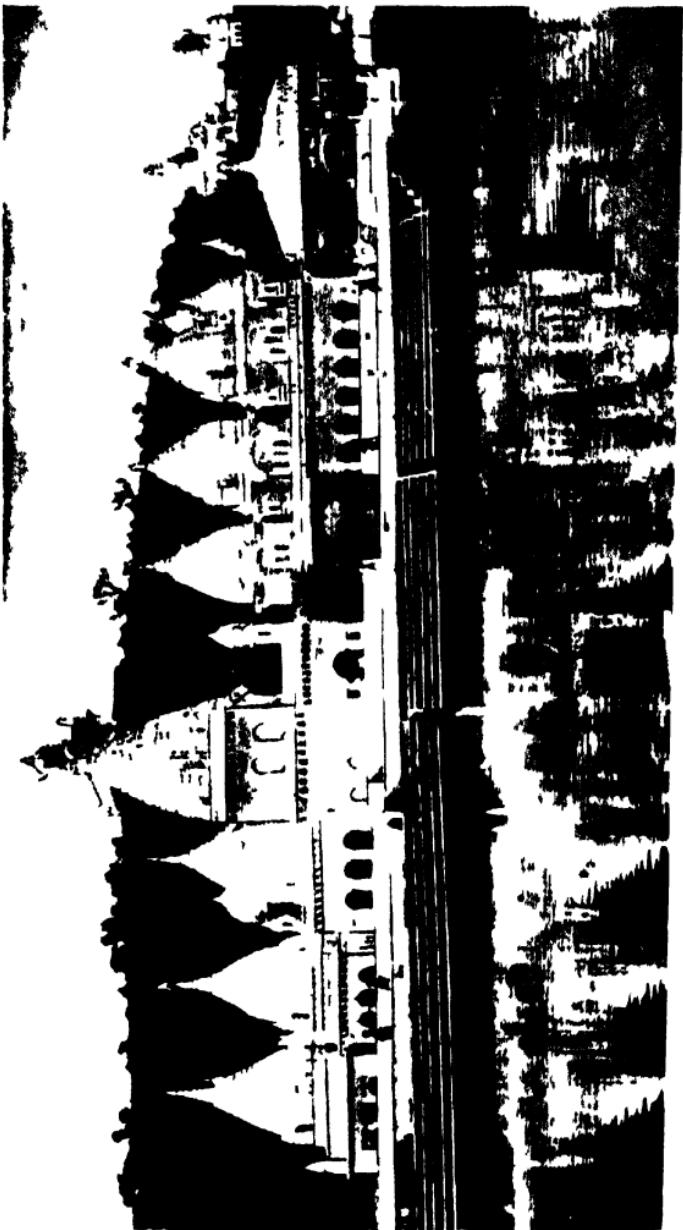
एक चरण सेवक
सिंघई गुलाबचद
इमोह (म. ड्र.)

जहाँ आचार्य श्री ने दो वर्षायोग व्यतीत कर ग्राथारम् पृथ्य श्री ममयमार जी कलना का हिन्दी प्रचानवाद किया

आचार्य श्री का माधवना स्थल —

बर्धमान
सरोवर
पर
स्थित
जल-मंदिर

श्री विग्रहर
जेन
सिद्ध-सेन
कुण्डलपुर जी
बरोह
(म. प.)



पर्वत क्षेत्र का विहंगम दृश्य
द० जैन अद्भुत कुण्डलपुर जी, ८



सम्मतवर्द्ध / समीक्षा हेतु / भेट

प्रकाशक / सम्पादक :

संघ नमस्कार

ॐ सर्वया ॐ

श्री आचार्य विद्यासागर जी

चरण जहाज बैठ मुनिवर जी भव समुद्र को तरण चले हैं
नगर-नगर से नर नारी जन भुक भुक शीश प्रणाम करे हैं
अष्ट करम के नाश करन को निज में निज पुरुषार्थ करे हैं
ऐसे विद्यासागर मुनि के चरण कमल हम नमन करे हैं

वीना वारहा के गजरथ में बात मर्म की एक कहे हैं
इक नदिया के दोय किनारे निश्चय और व्यवहार कहे हैं
ऐसी अनुपम वाणी सुनकर जन जन जय-जयकार करे हैं
ऐसे विद्या के सागर को बार बार परणाम करे हैं

श्री ऐलक दर्शन सागर जी

एनक दर्शन सागर जी भी दर्श ज्ञान आरूढ भये हैं
द्रव्य करम का उदय देखकर भाव करम कछु नाहि करे हैं
संवर सहित निर्जरा करके मुक्ति रमा को वरण चले हैं
ऐसे ऐलक जी को लखकर भाव सहित हम नमन करे हैं

श्री ऐलक योग सागर जी

ऐलक योगी सागर जी भी मुद्रा सहज प्रफुल्ल धरे हैं
दर्शन ज्ञान चरण पर चलकर रत्नत्रय की ओर बढ़े हैं
आहारों में अन्तराय लख करम निर्जरा सहज करे हैं
ऐसे योगीगज को भी हम योग लगाकर नमन करे हैं

श्री क्षुलक नियम सागर जी

क्षुलक नीयम सागर जी तो नियम पाल तन क्षीण करे हैं
 काय साथ इनकी नहि दे रई पुरषारथ ये अधिक करे हैं
 फिर भी ये साधक बनकर के आत्म हित के काज लगे हैं
 ऐसे क्षुलक जी को हम सब शीश नमाकर नमन करे हैं
 क्षुलक ममय सागर देखो शिव नगरी की ओर चले हैं
 समय-ममय की कीमत करके ममय सार की ओर बढ़े हैं
 समय-ममय पर समय सार लख कमन को मटार करे हैं
 ऐसे समय सार साधक को मन वचं काया नमन करे हैं

श्री क्षुलक चारित सागर जी

क्षुलक चारित सागर जी भी चरित धरन की लगन करे हैं
 केवल श्रीधर के चरणों में ध्यान लगाकर करम हरे हैं
 बड़े बाबा के चरण कमल में सत्लेखन की चाह करे हैं
 ऐसे चारित सागर जी को चरित्र हेतु हम नमन करे हैं

समुदाय नमन

संघ सहित ये विचरण करते आत्म साधना करत चले हैं
 तत्त्व ज्ञान की चरचा करकर जीवों का अज्ञान हरे हैं
 वीतरागता से परि पूरित है वीतराग युत चरण धरे हैं
 ऐसे मुनो संघ को घहनिश मोक्ष हेतु हम नमन करे हैं
 नरियल को झूठा कहके ये श्रीफल को बदनाम करे हैं
 नगर-नगर से भव्य जनों की मोक्ष हेतु ये चाह करे हैं
 अह कोई भवि मिल जावे तो दीक्षा की ये वात करे हैं
 ऐसे मुनी संघ को हम सब हाथ जोड नमकार करे हैं

विषयानुक्रमण

प्रथम खंड - ज्योतिर्मुख

		पृष्ठ
१.	मंगल मूत्र	१
२.	जित शामन मूत्र	४
३.	मंथ मूत्र	६
४.	निष्पण मूत्र	८
५.	मंसार चक्र मूत्र	११
६.	कमंमूत्र	१३
७.	मिन्यान्व मूत्र	१५
८.	राग पश्चिम मूत्र	१६
९.	धर्म मूत्र	१८
१०.	भद्र मूत्र	२५
११.	अपरिघट मूत्र	२८
१२.	अहिंसा मूत्र	३०
१३.	अप्रमाद मूत्र	३३
१४.	शिखा मूत्र	३६
१५.	आत्म मूत्र	३७

द्वितीय खंड - सोक्ष मार्ग

१६.	मोक्षमार्ग मूत्र	४०
१७.	गतव्रय मूत्र	४३
१८.	मम्यकदर्शन मूत्र	४५
१९.	मम्यकज्ञान मूत्र	५०
२०.	मम्यकचारित्र मूत्र	५३
२१.	माध्यना मूत्र	५८
२२.	द्विरिध धर्म मूत्र	६०
२३.	श्रावक धर्म मूत्र	६१
२४.	श्रमण धर्म मूत्र	६७
२५.	ब्रह्म मूत्र	७२

	पृष्ठ
२६. ममिति गुणि सूत्र	७६
२७. आवश्यक सूत्र	७८
२८. तप सूत्र	८६
२९. ध्यान सूत्र	९४
३०. प्रनुप्रेक्षा सूत्र	९८
३१. नेत्रया सूत्र	१०३
३२. आत्म विकास सूत्र	१०६
३३. मन्त्रग्रन्था सूत्र	१११

तृतीय खंड - तत्त्व दर्शन

- ३४. तन्त्र सूत्र
- ३५. द्रव्य सूत्र
- ३६. मृणाल सूत्र

चतुर्थ खंड - स्यादवाद

- ३७. अनेकात् सूत्र
- ३८. प्रमाण सूत्र
- ३९. नय सूत्र
- ४०. स्याद्वाद मण्डभी सूत्र
- ४१. ममन्वय सूत्र
- ४२. निक्षेप सूत्र
- ४३. ममापन सूत्र
- ४४. वीर मतवन

जैन गीता

(समणसुत्तं का पद्यानुवाद)

१ मङ्गलसूत्र

वसन्ततिलकाष्टन्द

हे ! शान्त सन्त अरहन्त अनन्त जाता,
 हे ! शुद्ध बुद्ध जिनसिद्ध अबद्ध धाता ।
 आचार्यवर्यं उवभाय मुसाधु सिन्धु
 मै बार बार तुम पाद पयोज वंदू ॥ १ ॥

है मूलमंत्र नवकार मुखी बनाता,
 जो भी पढ़े विनय मे अधको मिटाता ।
 है आद्य मंगल यही मव मगलों में,
 ध्याम्रो इसे न भटको जग जंगलों मे ॥ २ ॥

मर्वंजदेव अरहन्त परोपकारी,
 श्री मिद्ध वन्द्य परमात्म निविकारी ।
 श्री केवली कथित आगम माधु प्यारे,
 ये चार मंगल, अमंगल को निवारे ॥ ३ ॥

श्री वीतराग अरहन्त कुकर्मनाशी,
 श्री सिद्ध शाश्वत सुखी शिवधामवासी ।
 श्री केवली कथित आगम साधु प्यारे,
 ये चार उनम, अनुनम थेप मारे ॥ ४ ॥

ये बाल भानु सम हैं अरहन्त स्वामी,
 लोकाग्र में स्थित मदाशिव सिद्ध नामी ।
 श्री केवली कथित आगम माधु प्यारे,
 ये चार ही शरण हैं जगमें हमारे ॥ ५ ॥

जो श्रेष्ठ हैं शरण, मंगल कर्मजेता,
आगध्य हैं परम हैं शिवपंथ नेता ।
हैं बन्द्य सेवर, नरों अमुरों मुखों के,
वे ध्येय पंच गुण हों हम वालकों के ॥ ६ ॥

है धातिकर्मदन को जिनने नशाया,
विजान पा मुम जबलन्त अनन्त पाया ।
है भानु भव्यजनकंज विकासने हैं,
शुद्धान्म की विजय ही, अरहन्त वे हैं ॥ ७ ॥

कर्तव्य था कर लिया कृतकृत्य दृष्टा,
हैं मुक्त कर्म तन मे निज द्रव्य स्पष्टा !
है दूर भी जनन मृत्यु तथा जरा मे,
वे सिद्ध मिद्धमुम दें मुझको जरा मे ॥ ८ ॥

जानी, गुणो मतमतान्तर जान धारें,
मवाद मे महज वाद विवाद टारे ।
जो पालते परम पंच महावतों को,
आचार्य वे मुमति दे हम मेवकों को ॥ ९ ॥

अजानस्थप तम मे भटके फिरे हैं,
ससारिजीव हम है दुख मे घिरे हैं
दो जान ज्योति उवभाय ! व्यथा हरो ना !!
जानी बनाकर कृतार्थ हमें करो ना !!! ॥ १० ॥

अत्यन्त शान्त विनयी समदुष्टि वाले,
शोभे प्रशस्त यश से शशि से उजाले ।
हैं बीतराग परमोत्तम शीलवाले,
वे प्राण डालकर साधु मुझे बचा लें ॥ ११ ॥

अहंत् अकाय परमेष्ठि विभूतियों के,
आचार्यवर्यं उवभाय मुनीश्वरों के ।
जो आद्य वर्णं, अ, इ, आ, उ, म को निकालो,
ओंकार पूज्य बनता, क्रमशः मिला लो ॥१२॥

आदीश हैं अजित शंभव मांक्ष धाम,
वन्दूं गुणोध अभिनन्दन है ललाम ।
सद्भाव से सुमति पद्म सुपार्वं ध्याऊँ,
चन्द्रप्रभू चरण मे चिति ना चलाऊँ ॥१३॥

श्री पुष्पदन्त शशि शीतल शील पंज,
श्रेयांस पूज्य जगपूजित वामु पूज्य ।
आदर्श मे विमल, मन्त्र अनन्त, धर्म,
मैं शान्ति को नित नम् मिल जाय शर्म ॥१४॥

श्री कुन्थुनाथ अरनाथ मुमल्लि स्वामी,
सद्वोध धाम मुनिमुद्रत विश्व नामी ।
आराध्य देव नमि और अग्निष्ट नेमी,
श्री पार्वतीर प्रणमू, निज धर्म प्रेमी ॥१५॥

हैं भानु से अधिक भासुर कान्तिवाले,
निर्दोष हैं इसलिए शशिमे निराले ।
गंभीर नीर निधि मे जिन सिद्ध प्यारे,
संसारसागर किनार मुझे उतारें ॥१६॥



२ जिनशासन सूत्र

हो के विलीन जिसमें मनमोद पाते,
हैं भव्य जीव भव वारिधि पार जाते ।
श्री जैन शासन रहे जयवन्त प्यारा,
भाई यही शरण, जीवन है हमारा ॥१७॥

पीयूष है, विषय—सौख्य विरेचना है,
पीने सुशीघ्र मिटती चिर वेदना है ।
भाई जरा मरण रोग विनाशती है,
संजीवनी मुखकरी 'जिन भारती' है ॥१८॥

जो भी लब्धा सहज मे अरहन्त गाया,
सन् शास्त्र बाद, गणनायक ने बनाया ।
पूजू इसे मिल गया श्रुतबोध मिन्धु,
पी, विन्दु, विन्दु, दृग्बिन्दु समेत वन्दू ॥१९॥

प्यारी जिनेन्द्र मुख से निकली मुवाणी,
है दोष की न मिलती जिसमें निशानी ।
ओ ही विशुद्ध परमागम है कहाता,
देखो वही मब पदार्थ यथार्थ गाथा ॥२०॥

श्रद्धा समेत जिन आगम जो निहारें,
चारित्र भी तदनुसार सदा मुधारे ।
सकलेश भाव तज निर्मल भाव धारे,
ससारिजीवन परीत बनाय मारे ॥२१॥

हे बीतराग जगदीश कृपा करो तो,
हे विज्ञ, ज्ञान मुझ बालक मे भरो तो ।
होऊं विरक्त तन से शिवमार्गंगामी,
मैं केवली विमल निर्मल विश्व नामी ॥२२॥

है ओज तेज भरता मुख से शशी हैं,
गंभीर, धीर, गुण आगर हैं वशी हैं ।
वे ही स्वकीय परकीय सुशास्त्र जाता,
खोलें जिनागम रहस्य सुयोग्य शास्ता ॥२३॥

जो भी हिताहित यहां खुद के लिए हैं,
वे ही सदैव समझो पर के लिए हैं ।
है जैन गासन यही करुणा सिखाता,
सत्ता सभी सदृश हैं सबको दिखाता ॥२४॥

३ संघसूत्र

है शीघ्र से सकल कर्म कलंक धोता,
ना दोषधाम वह तो गुण धाम होता ।
हो एकमेक जिससे दृग बोध वृत्त,
जानो सभी सतत “संघ” उसे प्रशम्न ॥२५॥

सम्यक्त्व बोध व्रत को गण नित्य मानो,
है गच्छ मोक्ष पथ पे चलना मुजानो ।
मन् संघ है गुण जहाँ उभरे हुए हैं,
युद्धात्म ही समय है, गुरु गा रहे हैं !! ॥२६॥

आओ यहाँ प्रभय है भवभीत ! भाई,
धोखा नहीं, न छल, शीतलता सुहाई ।
माता पिता सब समा नहि भेद नाता,
नो संघ की शरण, सत्य अभेद भाता ॥२७॥

सम्यक्त्व में चरित में ग्रति प्रोढ़ होते,
विज्ञानरूप मर में निज को डुबोते ।
जो संघ में रह स्वजीवन को विताते,
वे धन्य हैं सफल जीवन को बनाते ॥२८॥

जो भक्ति भाव रखता गुरु में नहीं है,
लज्जा न नेह भय भी गुरु से नहीं है ।
सम्मान गौरव कभी यदि ना करेगा,
ओ व्यर्थ में गुरुकुली बन क्या करेगा ? ॥२९॥

भाई अलिप्त सहसा विधि नीर मे है,
उत्फुल्ल भी जिनप सूर्य प्रकाश से है ।
सागार भव्य अलि आ गुण गा रहे हैं,
गाते जहाँ प्रगुण केसर पी रहे हैं ॥३०॥

भाती जहाँ वह महावत कर्णिका है,
ना नाप भी श्रुतमयी सुमृणालका है ।
घेरे हुए श्रमण रूप-सहस्र-पत्र,
ओ “संघ पद्म” जयवन्त रहे पवित्र ॥३१॥



४ निरूपणसूत्र

निक्षेप और नय, पूर्ण प्रमाण द्वारा,
ना अर्थ को समझता यदि जो सुचारा ।
तो मत्य तथ्य विपरीत प्रतीत होता ,
होता असत्य सब सत्य, उसे डुबोता ॥३२॥

निक्षेप है वह उपाय सुजानने का ,
होता वही नय निजाशय ज्ञानियों का ।
तृ जान को समझ सत्य प्रमाण भाई ,
यों युक्ति पूर्वक पदार्थ लखें, भलाई ॥३३॥

दो मूल में नय सुनिश्चय, व्यवहार ,
विम्तार शेष इनका करता प्रचार ।
पर्याय द्रव्य नय हैं मय दो नयों में ,
होते सहायक सुनिश्चय साधने में ॥३४॥

धारें अनन्त गुण यद्यपि द्रव्य सारे ,
तो भी “मुनिश्चय” अखंड उन्हें निहारे ।
पे खंड, खड़ कर द्रव्य अखंड को भी ,
देखें कथंचित् यहां “व्यवहार” सो ही ॥३५॥

विज्ञान औ चरित-दर्शन विज्ञ के हैं,
जाते कहें, सकल वे व्यवहार से हैं ।
ज्ञानी परन्तु वह ज्ञायक गुद्ध प्यारा,
ऐसा नितान्त नय निश्चय ने निहारा ॥३६॥

है नित्य निश्चय निषेधक, मोक्ष दाता,
होता निषिद्ध व्यवहार नहीं मुहाता ।
लेते मुनिश्चय नयाश्रय संत योगी,
निर्वाण प्राप्त करते, तज भोग भोगी ! ॥३७॥

बोलो न आंगल नर से यदि आंगल भाषा,
कैसे उसे सदुपदेश मिले प्रकाशा ?
सत्यार्थ को न व्यवहार बिना बताया-
जाता सुबोध शिशु में गुरु से जगाया ॥३८॥

भूतार्थ शुद्ध नय है निज को दिखाता,
भूतार्थ है न व्यवहार, हमें भुलाता ।
भूतार्थ की शरण लेकर जीव होता-
सम्यक्त्व भूषित वही मन मेल धोता ॥३९॥

जाने नहीं कि वह निश्चय चौज क्या है
हैं मानते सकल बाह्य क्रिया वृथा है।
वे मूढ़ नित्य रट निश्चय की लगाने
चारित्र नष्ट करते, भव को बढ़ाते ॥४०॥

शुद्धात्म में निरत हो जब सन्त त्यागी,
जीवे विशुद्ध नय आश्रय ले विरागी ।
शुद्धात्म से च्युत, सराग चरित्र वाले
भूले न लक्ष्य व्यवहार अभी संभाले ॥४१॥

हैं कौन से ध्रमण के परिणाम केंद्र,
कोई पता नहि बता सकता नि ऐसे ।
तल्लीन हों यदि महाव्रत पालने में
वे वन्द्य हैं नित नमू व्यवहार में मैं ॥४२॥

वे ही मृषा नय करे पर की उपेक्षा,
एकान्त मे स्वयम की रखने अपेक्षा ।
सच्चे मदेव नय वे पर को निभा ले
बोलें परस्पर मिलें व गले लगा लें ॥४३॥

उम्मगं मार्ग निज में निजका विहारा,
शास्त्रादि साधन रखो अपवाद न्यारा ।
ज्ञानादि कार्य इनसे बनते सुचारा,
धारो यथोचित इन्हें सुख हो अपारा ॥४४॥



५ संसार चक्र सूत्र

संसार शाश्वत नहीं ध्रुव है न भाई,
पाऊँ निरन्तर यहां दुख, ना भलाई।
तो कौन सी विधि विधान सुयुक्तियां रे !
छूटे जिसे कि मम दुर्गति पंक्तियां रे ! ॥४५॥

ये भोग काम मधु-लिप्त कृपाण से हैं,
देते सदा दुख सुमेरु-प्रमाण से हैं।
संसार पक्ष रखते सुख के विरोधी,
हैं पाप धाम, इनसे मिलती न बोधि ॥४६॥

भोगे गये विषय ये बहुबार सारे,
पाया न सार इनमें मन को विदारे।
रे ! छान बीन कर लो तुम वार वार,
निम्नार भूत कदली तरु में न सार ॥४७॥

प्रारम्भ में अमृत मो सुख शान्तिकारी,
दें अन्त में अमित दारण दुःख भारी।
भूपाल-इन्द्रपदवी सुर मम्पदायें।
छोड़ो इन्हें विषम ये दुख आपदायें ॥४८॥

ज्यों तीव्र खाज चलती सुजली खुजाने
रोगी तथापि दुख को सुख ही बनाने।
मोहाभिभूत मतिहीन मनुष्य सारे,
त्यों काम जन्य दुख को सुख ही पुकारें ॥४९॥

संभोग में अनिरत, मन्मति से परे हैं,
जो दुःख को सुख गिनें, भ्रम में परे हैं।
वे मूँह कर्म-मल में फमने वृथा हैं,
मक्खी गिरी नड़ती कफ में यथा है ॥५०॥

हो वेदना जनन मृत्यु तथा जरा से,
ऐसा सभी समझते, सहसा संदा से ।
तो भी मिटी विषय लोलुपता नहीं है,
मायाभयी सुदृढ़ गांठ खुली नहीं है ॥५१॥

संसारि जीव जितने फिरते यहाँ हैं
वे राग रोष करते दिखते सदा हैं।
दुष्टाप्त कर्म जिससे अनिवार्य पाते,
है कर्म के बहन से गति चार पाते ॥५२॥

पाते गीत महल देह उन्हें मिलेंगी,
वे इन्द्रियाँ खिड़कियाँ जिसमें खुलेंगी ।
होगा पुनः विषय संवन इन्द्रियों से,
रागादिभाव फिर हो जग जन्तुओं से ॥५३॥

मिथ्यात्व के वश अनादि अनन्त मानो,
सम्यक्त्व के वश अनादि सुसान्त जानो ।
संसारजीव इस भाँति विभाव धारे,
वे धन्य हैं तज इन्हें गिव को पधारें ॥५४॥

लो ! जन्म से, नियम से, दुख जन्म लेते,
मारी जग मरण भी अति दुःख देने ।
संसार ही ठस ठस दुख से भरा है,
याढ़ा चराचर सहं सुख ना जरा है ॥५५॥

६ कर्म-सूत्र

जो भी जहाँ जब जभी जिस भाँति भाता,
विज्ञान में तब तभी उस भाँति आता ।
जो अन्यथा समझता करता बताता,
कुज्ञान ही वह सदा सबको सताता ॥ ५६ ॥

रागादि भाव करता जब जीव जैसे,
तो कर्म बन्धन बिना बच जाय कैसे ? ।
भाई ! शुभाशुभ विभाव कुकर्म आते,
हैं जीव संग बँधते, तब वे सताते ॥ ५७ ॥

जो काय से वचन से मद मत्त होता,
लक्ष्मी धनार्थ निज जीवन पूर्ण खोता ।
त्यों राग रोष वश है वसु कर्म पाता,
ज्यों सर्प, जो कि द्विमुखी, मृण नित्य खाता ॥ ५८ ॥

माना पिता सुत सुतादिक माथ देते,
आपत्ति में न सब वे दुख बाट लेते ।
जो भोगता करम को करता अकेला,
ओचित्य कर्म बनता उसका मुचेला ॥ ५९ ॥

है बन्ध के समय जीव स्वतन्त्र होते,
हो कर्म के उदय में परतन्त्र रोते ।
जैसे मनुष्य तरु पे चढ़ते अनूठे,
पानी गिरा, गिर गये जब हाथ छूटे ॥ ६० ॥

हो जीव को सबल कर्म कभी सताना,
तो कर्म को महज जीव कभी दबाता ।
देता धनी धन अरे ! जब निधनी को,
होता बली, कृष्ण कृष्णी जब दे धनी को ॥ ६१ ॥

मामान्य मे करम एक, वही द्विधा है,
 हैं द्रव्य कर्म जड़, चेतन मे जुदा है।
 जो कर्म शक्ति अथवा रति-रोप-भाव,
 है भावकर्म जिससे कर लो बचाव ॥ ६२ ॥
 शुद्धोपयोगमय आतम को निहारें,
 वे माधु इन्द्रियजयी मन मार डारें।
 ना कर्म रेणु उनपे चिपके कदापि,
 ना देह धारण करें फिर अपापी ॥ ६३ ॥

ना ज्ञान-आवरण से सब जानना हो,
 ना दर्शनावरण से सब देखना हो।
 है वेदनीय मुख दुःख हमें दिखाता,
 है मोहनीय उलटा जगको दिखाता ॥ ६४ ॥

ना आयु के उदय मे, तन-जेल छूटे,
 है नाम कर्म रखता, बहुस्प भूठे।
 है उच्च-नीच-पददायक गोत्र कर्म,
 तो अन्तराय बश ना बनता मुकर्म ॥ ६५ ॥

संक्षेप से समझ लो तुम अष्ट कर्म,
 सद्धर्म से सब सधे शिव-शान्ति शर्म ।
 होती इन्ही सम सदा वसु कर्म चाल,
 कर्मानुमार समझो, पट ढारपाल ।
 श्री खड्ग, मद्य, हर्ति, मौलिक चित्रकार,
 है कुम्भकार क्रमशः वसु कोषपाल ॥ ६६ ॥

७ मिथ्यात्व सूत्र

संमोह से भ्रमित है मन मत मेरा,
है दीखता सुख नहीं, परितः अधेरा ।
स्वामी रुका न अबलौं गति चार फेरा,
मेरा अतः नहि हुवा शिव में बसेरा ॥ ६७ ॥

मिथ्यात्व के उदय से मति भ्रष्ट होती,
ना धर्म कर्म रुचता, मिट जाय ज्योति ।
पीयूष भी परम-पावन-पेय-प्याला,
अच्छा लगे न ज्वर में बन जाय हाला ॥ ६८ ॥

मिथ्यात्व में भ्रमित पीकर मोह-प्याला,
ज्वालामुखी तरह तीव्र क्षयाय वाला ।
माने न चेनन अचेतन को जुदा जो,
होता निवान्त वहिरातम है मुधा ओ ॥ ६९ ॥

तत्त्वानुकूल यदि जो चलता नहीं है,
मिथ्यात्व चीज इससे बढ़ कीनमी है ।
कर्तव्यमूढ़, पर को वह हैं बनाता,
मिथ्यात्व को सघन रूप तभी दिलाता ॥ ७० ॥

८ राग परिहार सूत्र

है कर्म के विषम बीज सराग रोष,
समोह मे करम हो बहु दोष कोष ।
तो कर्म से जनन मृत्यु तथा जरा हो
ये दुःख मूल, इनकी कब निर्जरा हो ? ॥ ७१ ॥

हो कूर, घृ, मशहूर, जर्वर बैरी,
हानी तथापि उममे उतनी न तेरी ।
ये राग रोष तुझको जिननी व्यथा दें-
कोई न दें, अब इन्हें दुख दे मिटा दे ॥ ७२ ॥

मसार मागर अमार अपार खारा,
ससारि को सुख यहाँ न मिला लगारा ।
प्राप्तव्य है परम पावन मोक्ष प्याग,
ना जन्म मृत्यु जिसमें सुख का न पारा ॥ ७३ ॥

चाहो सुनिश्चय भवोदधि पार जाना,
बाहो नहीं यदि यहाँ अब दुःख पाना ।
घोखा न दो अव्ययम को टल जाय मौका,
वैठो मुशीघ्र तप-संयम-रूप नौका ॥ ७४ ॥

सम्यक्त्वरूप गुण को सहसा मिटाते,
चारित्र रूप पथ मे बुध को डिगाते ।
ये पाप ताप मय है रति राग रोष,
हो जा सुदूर इन से, मिल जाय तोष ॥ ७५ ॥

भोगाभिलाप वश ही वस भोगियों को,
होता असह्य दुख है सुर-मानवों को ।
ना साधु मानसिक कायिक दुःख पाते,
वे वीतराग बन जीवन है बिताते ॥ ७६ ॥

वैराग्य भाव जगता जिस भाव से है,
ओ कार्य आर्य करते, अविलम्ब में है।
जो हैं विरक्त तन से भव पार जाते,
आसक्त भोग तन में भव को बढ़ाते ॥ ७७ ॥

है राग रोप दुःख, पै न पदार्थ सारे,
बे बार बार मन में बुध यों विचारे।
नृष्णा अतः विषय को पड़ मद जाती,
जाती विमोह ममता, ममता सुहाती ॥ ७८ ॥

मैं शुद्ध चेतन अचेतन से निराला,
ऐसा सदैव कहता सम दृष्टिवाला।
रे ! देह नेह करना अति दुःख पाना,
छोड़ो उसे तुम यही गुरु का बताना ॥ ७९ ॥

मोक्षार्थ ही दमन हो सब इन्द्रियों का,
वैराग्य मे घमन क्रोध कषायियों का ।
हो कर्म शागमन-द्वार नितान्त वन्द,
शुद्धात्म को नमन हो नहि कर्म वन्ध ॥ ८० ॥

ज्यों शोभना जलज जो जलमे निराला,
त्यों वीतराग मुनि भी तन मे खशाला।
होता विरक्त भव में रहता यही है,
रगीन में न रचता पचता नहीं है ॥ ८१ ॥

६ धर्म सूत्र

पाना सदेव तप संयम मे प्रशंसा,
ओ धर्म मंगलमयी जिसमें अर्हिसा ।
जो भी उमे विनय मे उर में विठाते,
सानन्द देव तक भी उनको पुजाते ॥ ८२ ॥

है वस्तु का धरम तो उसका स्वभाव,
सच्ची क्षमादि दशलक्षण धर्म-नाव ।
जानादि रत्न त्रय धर्म, मुखी बनाता,
है विश्व धर्म त्रम थावर प्राणि-त्राता ॥ ८३ ॥

प्यागी क्षमा, मृदुलता ऋजुता सचाई,
ओ शौच्य सयम धरो, तप मे भनाई ।
त्यागो परिग्रह, अकिञ्चन गीत गा लो,
लो ! ब्रह्मचर्य मर में डुबकी लगा लो ॥ ८४ ॥

हो जाय घोर उपसर्ग नरों मुरों मे,
या खेचरों पशुगणों जन दानवों से ।
उद्दीप्त हो न उठनी यदि क्रोध ज्वाला,
मानो उमे तुम क्षमामृत पेय प्याला ॥ ८५ ॥

प्रत्येक काल मब को करता क्षमा मैं,
सारे क्षमा मुझ करे नित मागता मैं ।
मैत्री रहे जगत के प्रति नित्य मेरी,
हो वेर भाव किसमे जब है न वैरी ॥ ८६ ॥

मैने प्रमाद वश दुःख तुम्हें दिया हो,
किवा कभी यदि अनादर भी किया हो ।
ना शल्य मान मन में रखता वृथा मैं,
हूँ माँगता विनय से तुमसे क्षमा मैं ॥ ८७ ॥

हूँ श्रेष्ठ जाति कुल में श्रुत में यशस्वी,
जानी सुजील प्रति सुन्दर हूँ तपस्वी ।
ऐसा नहीं श्रमण हो, मन मान लाते,
निभ्रान्ति वे परम मार्दव धर्म पाते ॥ ८८ ॥

देता न दोष पर को, गुण हूँड़ लेता,
निन्दा करे स्वयम की, मन अक्ष जेता ।
मानी वही नियम से गुणधाम जानी,
कोई कभी गुण बिना बनता न मानी ॥ ८९ ॥

सर्वोच्च गोत्र हमने बहुबार पाया,
पा, नीच गोत्र, दुख जीवन है बिताया ।
मैं उच्च की इसलिए करता न इच्छा,
स्थाई नहीं क्षणिक चंचल उच्च नीचा ॥ ९० ॥

आचार में वचन में व विचार में भी,
जो धारता कुटिलता नहि स्वप्न में भी ।
योगी वही सहज आर्जंव धर्म पाता,
जानी कदापि निज दोष नहीं छिपाता ॥ ९१ ॥

मिश्री मिले वचन वे रहते मभी को,
संताप हो श्रवण मे न कभी किमी को ।
कल्याण हो स्व पर का मुनि बोलता है,
हो मन्य धर्म उसका दृग बोलता है ॥ ९२ ॥

हो चोर चौर्यं करता विषयाभिलाषी,
पाता त्रिकाल दुख हाय अमत्य भाषी ।
देखो जभी दुखित ही वह है दिखाता,
सत्यावलम्बन सदीव मुखी बनाता ॥ ९३ ॥

माधर्मि के वचन आज नहीं सुहाते,
हैं पथ्यरूप, फलतः कटु दीख पाते ।
पीते अतीव कड़वी लगती दवाई,
नीरोगता फल मिले, मति मुम्कुराई ॥ ९४ ॥

विश्वाम पात्र जननी सम मत्यवादी,
हो पूजनीय गुरु मादृश अप्रमादी ।
वे विश्वको म्वजन भाँति सदा सुहाते,
बन्दूं उन्हें सतत मैं गिर को भुकाते ॥ ९५ ॥

ज्ञानादि मौलिक मभी गुण वे अनेकों,
है सत्य में निहित सयम शोल देवो ।
आवास ज्यों जलधि है जलजीवियों का
त्यों मत्य धर्म जग में सब मद्गुणों का ॥ ९६ ॥

ज्यों ज्यों विकास धन का क्रमणः बढ़ेगा,
त्यों त्यों प्रलोभ बढ़ता बढ़ता बढ़ेगा ।
मम्पन्न कार्य कण में जब जो कि पूरा,
होता वही न मन में रहता अधूरा ॥ ९७ ॥

पा संकड़ों कनक निर्मित पर्वतों को,
हाँगी न तृप्ति फिर भी तुम लोभियों को ।
आकाश है वह अनन्त अनन्त आशा
आशा मिटे, सहज हो परितः प्रकाशा ॥ ९८ ॥

त्यों मोह से जनम, तामस लोभ का हो
या लोभ से दुरित कारण मोह का हो ।
ज्यों वृक्ष श्व ! उपजता उम बीज मे है,
या बीज जो उपजता इम वृक्ष से है ॥ ९९ ॥

सन्तोष धार, समता जल से विरागी,
घोते प्रलोभ मल को बुध सन्त त्यागी ।
लिप्सा नहीं अशन में रखते कदापि,
हो शौच्य धर्म उनका, तज पाप पापी ॥१००॥

जो पालना समिति, इन्द्रिय जीतना है,
है योग रोध करना, व्रत धारना है ।
सारी कपाय तजना मन मारना है,
भाई वही सकल संयम साधना है ॥१०१॥

फोड़ा कपाय घट को, मन को मरोड़ा,
है योगि ने विषय को विष मान छोड़ा ।
स्वाध्याय ध्यान बल से निज को निहारा,
पाया नितान उसने तप धर्म प्यारा ॥१०२॥

वंराय धार भवभोग शरीर मे ओ !
देखा स्व को यदि मुद्रर विमोह से हो ।
तो त्याग धर्म समझो उनने लिया है,
सदेश यों जगत को प्रभुने दिया है ॥१०३॥

भोगोपभोग मिलने पर भी कदापि,
जो भोगता न उनको बनना न पापी ।
त्यागी वही नियम मे जगमे कहाता,
भोगी न भोग तजता, भव योग पाता ॥१०४॥

जो ग्रनरग बहिरग निमग नगा,
होता दुखी नहि मुखी, वस नित्य चगा ।
भाई ! वही वर अकिञ्चन धर्म पाना,
पाता स्वकीय मुख को, अघ को खपाता ॥१०५॥

हैं गुद्ध पूर्ण दृग बोधमयी सुधा से,
मैं एक हूँ पृथक हूँ सब से सदा से ।
मेरा न और कुछ है नित मैं अस्थपी,
मेरी नहीं जड़मयी यह देह रूपी ॥१०६॥

मैं हूँ सुखी रह रहा मुख मे अकेला,
मेरा न और कुछ है गुरु भी न चेला ।
उद्दीप्त हो यदि जले मिथिला यहाँ रे,
बोले “नमी” कि उसमे मम ह्रानि क्या रे ! ॥१०७॥

निस्सार जान जिनने व्यक्त्वार मारा,
छोड़ा, रखा न कुछ भी कुल पुत्र दारा ।
ऐमा कहें सतत वे सब मन सच्चे,
कोई पदार्थ जगमें न बुरे न अच्छे ॥१०८॥

ज्यों पथ जो जलज हो जलमे निराला,
ओं ना गले नहि सड़े रहता निहाला ।
त्यों भोगमें न रचता पचता नहीं है,
है वंद्य ब्रह्मण यहाँ जगमें वही है ॥१०९॥

ना मोह भाव जिसमें दुख को मिटाया,
तृष्णा विहीन मृनि, मोहन को नशाया ।
तृष्णा विनष्ट उसमे यति जो न लोभी,
हो लोभ नष्ट उससे विन संग जो भी ॥११०॥

जो देह नेह तजता निज ध्यान धारी,
है ब्रह्मचर्यं उसकी वह वृत्ति सारी ।
है जीव ही परम ब्रह्म सदा कहाता,
है बार बार उसको शिर मैं नवाता ॥१११॥

चंद्रानना, मृगदृगी, मृदुहासवाली,
नीलावती, ललित ये ललना निराली ।
देखो इन्हें, पर कभी न बनो विकारी,
मानो तभी कि हम हैं सब ब्रह्मचारी ॥११२॥

संसर्ग पा अनल का भट लाख जैसा,
स्त्री संग से पिघलता अनगार वैसा ।
योगी रहे इसलिए उनमे सुदूर,
एकान्त में विपिन में निज में जरूर ॥११३॥

कामेन्द्रिका दमन रे ! जिसने किया है,
कोई नहीं अब उमे कठिनाइयां हैं ।
जो धैर्य मे अमित मागर पार पाना,
क्या शीघ्र मे न सरिता वह तेर जाना ? ॥११४॥

नारी रहो, नर रहो जब शील धारी,
स्त्री मे वचे नर, वचे नरसे सुनारी ।
स्त्री आग है, पुरुष है नवनीत भाई,
उदीप्त एक, पिघले, मिलते बुराई ॥११५॥

होती मुशोभित नथापि मुनारि जाति,
फैली दिगंतक है जिन-शील-रूप्याति ।
ये हैं पवित्र धरती पर देवतायें,
पूजे इन्हें नित सुरामुर अप्मरायें ॥११६॥

कामाग्नि मे जल रहा ब्रयलोक सारा,
देखो जहां विषय की लपटे अपारा ।
वे धन्य हैं यदपि पूर्ण युवा बने हैं,
सन् शील मे लम रहे निज में रमे हैं ॥११७॥

जो एक, एक कर रात व्यतीत होती,
आती न लौट, जनता रह जाय रोती ।
मोही अधर्म रत है, उसकी निशायें,
जाती वृथा दुखद है उलटी दिशायें ॥११६॥

ले द्रव्य को वनिक तीन चले कमाने,
जाकं बमे गहर में खुलतीं दुकानें ।
है विज एक उनमें धनको बढ़ाता,
है एक मूल धन लेकर लौट आता ॥११७॥

ओ मृदृ, मूल धनको जिमने गवाया,
सारा गया विनथ हाय ! किया कराया ।
तेमा हि कार्यं अवलौ हमने किया है,
मद्धर्म पा उचित कार्यं कहाँ किया है ? ॥१२०॥

आत्मा म्वस्प रन आनम को जनाता,
शुद्धात्म स्प निज माध्यिक धर्म भाता ।
आत्मा उमी तरह मे उमको निभावे,
श्रीघ्रातिशीघ्र जिसमे मुञ्च पास आवे ॥१२१॥



१० संयम सूत्र

आत्मा मदीय दुखदा तरु शाल्मली है,
दाहात्मिका-विषम-वैतरणी नदी है।
किवा सुनंदन वनी मनमोहिनी है,
है काम धेनु सुखदा दुख हारिणी है ॥१२२॥

आत्मा हि दुःख सुख रूप विभाव कर्ता,
होता वही इसलिए उनका प्रभोक्ता।
आत्मा अनात्म रत ही रिपु है हमारा,
तल्लीन हो स्वयम में नव मित्र प्यारा ॥१२३॥

आत्मा मदीय रिपु है बन जाय सर्वेरी,
स्वच्छन्द-इन्द्रिय-कषाय-निकाय वैरी।
जीनूँ उन्हे जिननियंत्रणमें रखें मैं,
धर्मानुमार चलके निज को लखूँ मैं ॥१२४॥

जीते भले हि रिपु को रण में प्रतापी,
मानो उसे न विजयी, वह विश्वतापी।
रे ! गूर वीर विजयी जग में वही है,
जो जीतता स्वयम को बनता मुखी है ॥१२५॥

जीतो भले हि पर को, पर क्या मिलेगा ?
पूछूँ तुम्हे दुरित क्या उसमे टलेगा ?
भाई लड़ो स्वयम से मन दूमगों मे,
छूटो मभी महज मे भव वधनों से ॥१२६॥

अत्यन्त ही कठिन जो निज जीतता है,
कर्तव्य मान उमको वम माधना है।
जो जी रहा जगत में बन आत्म जेता,
सर्वत्र दिव्य मुख का वह नाभ लेता ॥१२७॥

श्रीचित्य है न पर के वघ वधनों मे,
मैं हो रहा दमित जो कि युगों युगों से ।
होगा यही उचित, मंयम योग धार्ह,
विश्वाम है, म्बयम पे जय शीघ्र पाऊँ ॥१२८॥

हो एक मे विरति तो रति एक से हो,
प्रत्येक काल मव कार्य विवेक मे हो ।
ने लो अभी तुम असंयम से निवृत्ति,
सारे करो मतत मंयम मे प्रवृत्ति ॥१२९॥

हैं राग रोप अधकोप नहीं मुहाने,
ये पाप कर्म, मदमे महमा कराते ।
योगी इन्हें तज, जभी निज धाम जाते,
आने न लौट भव मे, मुख चैन पाते ॥१३०॥

लो, जान ध्यान तप संयम साधनों को,
हे माधु ! इन्द्रिय-कपाय-निकाय रोको ।
घोड़ा कदापि रुकता न बिना लगाम,
उयों ही लगाम लगता, बनता गुलाम ॥१३१॥

चारित्र मे जिन समान बने उजाले,
वे बीतराग, उपशान्त कषाय वाले ।
नीचे कपाय उनको जब है गिराती,
जो हैं मराग, फिर क्या न उन्हें नचाती ? ॥१३२॥

हा ! साधु भी समुपशान्त कषाय वाला,
होता कपाय वश मंद विशुद्धिवाला ।
विश्वासभाजन कपाय अनः नहीं है,
जो आ रही उदय मे अथवा दबी है ॥१३३॥

थोड़ा रहा क्रृष्ण, रहा बृण मात्र छोटा,
हैं राग, आग लघु यों कहना हि खोटा ।
विश्वास क्यों कि इनपे रखना बुरा है,
देते सुशीघ्र बढ़ के दुख मर्मरा हैं ॥१३४॥

ना क्रोध के निकट “प्रेम” कदापि जाता,
है मानसे विनय शीघ्र विनाश पाता ।
माया विनष्ट करती जग मित्रता को,
आशा विनष्ट करती सब सभ्यता को ॥१३५॥

क्रोधादिन का शमन शीघ्र करो क्षमा से
रे ! मान मर्दन करो तुम नम्रता मे ।
धारो विशुद्ध कृजुता मिट जाय माया,
संतोष में रति करो तज लोभ जाया ॥१३६॥

ज्यों देह में मक्कल अग उपांग को,
नेता समेट कछवा, नव मंकटों को ।
मेघावि-लोग अपनी सब इन्द्रियों को
लेने समेट निज में भजते गुणों को ॥१३७॥

अज्ञान मान वश दी कुछ ना दिखाई-
मानो, अनर्थ घटना घट जाय भाई ।
मद्यः उसी समय ही उम की मिटाओ
आगे कदापि फिर ना तुम भूल पाओ ॥१३८॥

जो धीर धर्म रथ को रुचि में चलाता,
है ब्रह्मचर्य मर में डुबकी लगाता ।
आराम धर्मय जो जो जिसको मुहाता,
धर्मानुकूल विचरे मुनि मोद पाता ॥१३९॥

११ अपरिग्रह सूत्र

जो भी परिग्रह रखें विषयाभिलाषी,
वे चोर हिंसक कुशील असत्यभाषी।
संसार की जड़ परिग्रह को बताया,
यां सँग को जिनप ने मन मे हटाया ॥१८०॥

जो मृढ़ ले परम सथम से उदासी,
धारे धनादिक परिग्रह दास दासी।
अत्यन्त दुःख सहता भवमे डुलेगा,
तो मुक्ति द्वार अवरुद्ध न ही खुलेगा ॥१४१॥

जो चिन से जब परिग्रह को हटाता
है, बाह्यके सब परिग्रह को मिटाता।
है वीतराग समधी अपरिग्रही है
देखा स्वकीय पथ को मुनि ने सही है ॥१४२॥

मिथ्यात्व वेद त्रय हास्य विनाशकारी
ग्नानो, रती, अग्निशोक कुभीति भारी।
ये नोकपाय नद चार कपायिया है
यो भीतगी जहर चौदह ग्रथियां है ॥१४३॥

ये खेत धाम धन, धान्य, अपागगशि
शश्या विमान पशु वर्तन दास दासी;
नाना प्रकार पट आमन पक्तिया रे !
ये बाहरी जडमयी दस ग्रथिया रे ॥१४४॥

अत्यन्त शान गन्कनात निनान्त चॅगा
हो अन्नरग वहिरग, निमग, नगा।
होता सुखी सतन है जिम भाति योगी
चक्री कहा वह सुखी उस भाति भोगी ॥१४५॥

ज्यों नाग अंकुश बिना वश में न आता,
खाई बिना नगर रक्षण हो न पाता ।
त्यों संग त्याग बिन ही सब इन्द्रियां रे !
आती कभी न वश में, तज ग्रंथियां रे ॥१४६॥

१२ अर्हिसा सूत्र

जानो तभी तुम सभी सहमा बनोगे,
संयुणं प्राणिवध को जब द्योऽ दोगे ।
है साम्यधर्म वह है जिसमें न हिसा,
विज्ञान मंभव कभी न, बिना अर्हिसा ॥१४७॥

हैं चाहते जबकि ये जग जीव जीना,
होगा अभीष्ट किसको फिर मृत्यु पाना?
यों जान, प्राणिवध को मुनि शीघ्र त्यागें,
निर्ग्रथस्प धरके, दिन रेन जागें ॥१४८॥

हे जीव ! जीव जितने जग जी रहे हैं,
विल्यात वे सब चराचर नाम से हैं।
निर्ग्रथ माधु बन, जान अज्ञान में ये,
मारे कभी न उनको न कभी मराये ॥१४९॥

जैसा तुम्हें दुख कदापि नहीं मुहाना,
जैसा अभीष्ट पर को दुख हो न पाना ।
जानो उन्हें निज समान दया दिलाओ,
सम्मान मान उनको मन से दिलाओ ॥१५०॥

जो अन्य जीव वध है वध औ निजी है,
भाई यही परदया स्वदया रहा है,
साधु स्वकीय हितको जब चाहते हैं,
वे सर्व जीव वध निश्चित त्यागते हैं ॥१५१॥

तू है जिसे समझता वध योग्य बैरी
तू ही रहा “वह” अरे यह भूल तेरी ।
तू नित्य सेवक जिसे बस मानता है,
तू ही रहा ‘वह’ जिसे नहि जानता है ॥१५२॥

रागादि भाव उठना वह भाव हिंसा,
होना अभाव उनका समझो अर्हिंसा ।
त्रैलोक्य पूज्य जिनदेव हमें बताया,
कर्तव्यमान निजकार्य किया कराया ॥१५३॥

कोई मरो मत मरो नहि बंध नाता,
रागादिभाव वश ही दुत कर्म आता ।
शास्त्रानुसार नय निश्चय नित्य गाता,
यों कर्म-बन्ध--विधि है, हमको बनाता ॥१५४॥

है एक हिंसक तथेक अमयमी है,
कोई न भेद उनमें कहते यमी है ।
हिंसा निरंतर नितान्त बनो रहेगी,
भाई जहां जब प्रमाद-दशा रहेगी ॥१५५॥

हिंसा नहीं पर उपाध्य बने अर्हिमा,
जानी करे मतन ही जिस की प्रश्नमा ।
ले लक्ष्यकर्म क्षयका बन मत्यवादी,
होता अर्हिमक वही मुनि अप्रमादी ॥१५६॥

हिंसा मदीय यह आतम ही अर्हिमा,
सिद्धान्त के बचन ये कर लो प्रश्नमा ।
जानी अर्हिमक वही मुनि अप्रमादी,
हा ! मिहमें अधिक हिंमक हो प्रमादी ॥१५७॥

उत्तुंग मेरु गिरि सा गिरि कौन सा है ?
निस्सीम कौन जगमें इम व्योम सा है ?
कोई नहीं परम धर्म विना अर्हिमा,
धारो इसे विनय से तज मर्व हिंसा ॥१५८॥

देता तुझे अभय पार्थिव शिव्य प्यारा,
तू भी सदा अभय दे जगको महारा ।
क्या मान तू कर रहा दिन रेन हिसा !!
संसार तो क्षणिक है भज ले अर्हिसा ॥१५९॥

१३ अप्रमाद सूत्र

पाया इसे न अबलौ इस को न पाना,
मैंने इसे कर लिया, न इसे कराना ।
ऐसा प्रमाद करते नहि सोचना है,
आ जाय काल कब ओ न हि मूचना है ॥१६०॥

नंसार में कुछ न सार अमार मारे,
है मार्गभूत समतादिक-द्रव्य प्यारे ।
मोये हुए पुरुष ये बम सर्व खोते,
जो जागते महज से विधि पक धोते ॥१६१॥

मोना हि उत्तम अधार्मिक दुर्जनों का,
है श्रेष्ठ "जागरण" धार्मिक मज़जनों का ।
यों वन्मदेश नृपथी अनुजा 'जयन्ती'
वाणी मुनी जिनप की वह शीलवन्ती ॥१६२॥

मोया हुवा जगत में बुध नित्य जागे,
जागे प्रबोध उर में मब पाप न्यागे ।
है काल "काल" नन निर्वन ना विवाद,
भेरण्ड मे नुम अतः तज दो प्रमाद ॥१६३॥

धाना अनेक विध आश्रव का प्रमाद,
लाना महर्य वर मंवर अप्रमाद ।
ना हो प्रमाद तब पण्डित मोह-जेना,
होना प्रमाद वश मानव मृड नेना ॥१६४॥

मोही प्रवृत्ति करते नहि कर्म खोते,
ज्ञानी निवृत्ति गहते मनमैन धोते,
धीमान धीर धरते, धरते न खोभ,
ना पाप नाप करते करते न खोभ ॥१६५॥

मोही प्रमत्त बनते, भयभीत होते,
खोने स्वकीय पद को दिन रेन रोते।
योगी करे न भय को बन ग्रप्रमत्त,
वे मस्त व्यस्त निज में नित दत्तचित्त ॥१६६॥

मोही ममत्व रखता न विराग होता,
विद्या उसे न मिलती दिन रेन सोता।
कैमे मिले मुख उसे जब आलसी है,
कैमे बने “मदय” हिमक नामसी है ॥१६७॥

भाई मदैव यदि जागृत तू रहेगा,
तेरा प्रबोध बढ़ता बढ़ता बढ़ेगा।
वे धन्य हैं मन जाग्र जी रहे हैं,
जो सो गड़ अधम हैं विष पी रहे हैं ॥१६८॥

है देव, भाल, चनता, उठना, उठाता—
शास्त्रादि वस्तु गणना, तन को गुणाता।
है त्यागना मन, नगानर को बचाना,
योगी अहिनक दयानु रहे रहाता ॥१६९॥

१४ शिक्षा सूत्र

पाते नहीं अविनयी सुख सम्पदाये,
पा ज्ञान गौरव सुखी विनयी सदा ये ।
जानो यही अविनयी-विनयी समीक्षा,
ज्ञानी बनो सहज पाकर उच्च शिक्षा ॥१७०॥

मिथ्याभिमान करना, मनक्रोध लाना,
पाना प्रमाद, तनमे कुछ रोग आना ।
आलस्यकानुभव, ये जब पच होते,
शिक्षा मिले न, हम बालक सर्व रोते ॥१७१॥

आलस्य हास्य मनरजन त्याग देना,
होना मुशील, मन--दन्तिय जीत लेना ।
क्रोधी कभी न बनना, बनना न दोषी,
ना झूलना विषय में न असत्य--पोषी ॥१७२॥

भाई कदापि बनना न रहम्य भदी,
ऐसा सदैव कहा गुरु आत्मवेदी ।
आ जाय आठ गुण जीवन में किसी के,
विद्या निवास करती मुख में उमी के ॥१७३॥

सिद्धान्त के मनन में मन-हाथ आता,
विज्ञान भानु उगता, तमको मिटाता ।
जो धर्म निष्ठ बनता, पर को बनाता,
सद्बोध रूप सर में डूबकी लगाता ॥१७४॥

ससार को प्रिय लगे प्रिय बोल बोलो,
सद्घ्यान में तप तपो दृग पूर्ण खोलो ।
सिद्धान्त को गुरुकुली बन के पढ़ोगे,
सबः सभी श्रुत विशारद जो बनोगे ॥१७५॥

जाज्वल्यमान इक दीपक से अनेकों,
हैं शीघ्र दीप जलते अयि मित्र देखो ।
आचार्य दीप सम हैं तम को मिटाते,
आनोक धाम हम को सहसा बनाते ॥१७६॥



१५ आत्म सूत्र

तत्वों, पदार्थ-निचयों, जड़वस्तुओं में,
है जीव ही परम श्रेष्ठ यहाँ सबों में।
भाई अनन्त गुण धाम नितान्त प्यारा,
ऐसा सदा समझ, ले निज का सहारा ॥१७७॥

आत्मा वही त्रिविधि है बहिरंतरात्मा,
आदेय है परम आत्म है महात्मा।
दो भेद हैं परम आत्म के सुजानों,
हैं वीतराग “अरहन्त सुसिद्ध” मानो ॥१७८॥

मैं हूँ शरीरमय ही बहिरात्म गाता,
जो कर्म मुक्त परमात्म है कहाता।
चेतन्य धाम मुझसे, तन है निराला,
यों अन्तरात्म कहता, सम दृष्टिवाला ॥१७९॥

जो जानते जगत् को बन निर्विकारी,
सर्वजन्देव अरहन्त शरीरधारी।
वे सिद्ध चेतन-निकेतन में बसे हैं,
सारे अनन्त सुख में सहसा लम्हे हैं ॥१८०॥

वाक्काय से मनस में कृषि सन्त सारे,
वे हेय जान बहिरात्मपना विसारे।
हाँ ! अन्तरात्मपन को रुचि से मुधारे,
प्रत्येक काल परमात्म को निहारे ॥१८१॥

संसार चंकमण ना कुलयोनियाँ हैं,
ना रोग, शोक, गरि जाति-विजातियाँ हैं
ना मार्गना न गुणथानन की दशायें
शुद्धात्म में जनन मृत्यु जरा न पायें ॥१८२॥

मन्मथान, संहनन, ना कुछ ना कलाई,
ना वर्ण, स्पर्श, रस, गंध चिकार भाई ॥
ना तीन वेद, नहि भेद, अभेद भाता,
शुद्धात्म में कुछ विशेष नहीं दिखाता ॥१८३॥

पर्याय ये विकृतियाँ व्यवहार से हैं,
जो भी यहाँ दिख रहे जग में तुझे हैं।
पै सिद्ध के मदृश हैं जग जीव सारे,
तू देख शुद्धनय से मद को हटा रे ! ॥१८४॥

आत्मा सचेतन अस्प अगन्ध प्यारा,
अव्यक्त है अरस और अशब्द न्यारा ।
आता नहीं पकड़ में अनुमान ढारा,
मन्मथान से विकल है सुख का पिटारा ॥१८५॥

आत्मा मदीय गंतदोष अयोग योगी,
निश्चित है निडर है निमिलोपयोगी,
निर्मोह, एक, नित, है सब संग त्यागी,
है देह मे रहित, निर्मम, वीतरागी ॥१८६॥

सन्तोष-कोष, गतरोप, अदोष, ज्ञानी,
निःशल्य शाश्वत दिगम्बर है अमानी ।
नीराग निर्मद नितान्त प्रशान्त नामी,
आत्मा मदीय, नय निश्चय से अकामी ॥१८७॥

ना अप्रमत्त मम आत्म ना प्रमत्त,
है शुद्ध, शुद्धनय से मद-मान-मुक्ते ।
ज्ञाता वही सकल-ज्ञायक यों बताते,
वे साधु शुद्ध नय आश्रय ले सुहाते ॥१८८॥

हूँ ज्ञानवान्, मन ना, तन ना, न वाणी,
होऊँ नहीं करण भी उनका न मानी।
कर्त्ता न कारक न हूँ अनुमोद दाता,
घाता स्वकीय गुण का पर से न नाता ॥१८९॥

स्वामी ! जिसे स्वपर बोध भला मिला है,
सौभाग्य से दृग-सरोज खुला खिला है।
वो क्या कदापि पर को अपना कहेगा ?
ज्ञानी न मृढ़ सम दोष कभी करेगा ॥१९०॥

मै एक, शुद्धनय से दृग बोध स्वामी,
हूँ शुद्ध, बुद्ध, अविरद्ध अबद्ध नामी।
निर्मोह भाव करता निज लीन होऊँ.
शुद्धोपयोग-जल मे विघि पंक धोऊँ ॥१ - १॥

ॐ प्रथम खण्ड समाप्त ॐ

दोहा

ज्योतिर्मुख को नित नम्, छृटे भव-भव-जेल,
मत्ता मूझको वह दिने ज्योति ज्योति का मेल ॥१॥



१६ मोक्ष मार्गसूत्र

वैराग्य में विमल केवल बोध पाया,
“सन्मार्ग” “मार्गफल” को जिनने बनाया ।
“सम्यक्चर्मार्ग” जिसका फल मोक्ष न्यारा,
है जैन शासन यही मुख दे अपारा ॥१९२॥

चारित्र बोध दृग है शिवपंथ प्यारा,
ले लो अभी तुम अभी इसका सहारा ।
तीनो भराग जब लो कुछ बन्ध नाना,
ये वीत्राग बनते, शिव पास आता ॥१९३॥

धर्मानुगग मुख दे दुख मेट देता,
जानी प्रमादवश यों यदि मान लेता ।
अध्यात्म में पनित हो पुनि पुण्य पाता,
होता वितीन परमें निज को भुलाता ॥१९४॥

भाई अभव्य ब्रत क्यों न सदा निभालें,
ने ने भले ही तप, संयम गीत गा ले ।
ओ गुणिया समितियां कल शील पाले,
पाते न बोध दृा न बनते उजाले ॥१९५॥

जानो न !निष्ठ्य तथा व्यवहार धर्म,
बाधो मभी तुम शुभाशुभ अष्ट कर्म ।
सारी क्रिया विधन कुछ भी करो ने !
जन्मो मरो, भ्रमित हो भव मे फिरो ने ॥१९६॥

सद्धर्म धार उसकी करते प्रतीति,
श्रद्धान गाढ़ रखते रुचि और प्रीति.
चाहे अभव्य फिर भी भव भोग पाना,
ना चाहते धर्म से विधि को खपाना ॥१९७॥

है पाप जो अशुभ भाव ही तुम्हारा,
है पुण्य सौभ्य शुभभाव सभी विकारा
है निविकार निजभाव नितान्त प्यारा,
हो कर्म नष्ट जिससे सुख शान्तिधारा ॥१९८॥

जो पुण्य का चयन ही करता रहा है,
संसार को वस अवश्य बढ़ा रहा है।
हो पुण्य से मुगति पै भव ना मिटेगा,
हो पुण्य भी गन्ति तो शिव जो मिनेगा ॥१९९॥

मोही कहे कि शुभभाव सुशील प्यारा,
खोटा बुरा अशुभभाव कुशील खारा,
संसार के जलधि में जब जो गिराता,
कैसे सुशील शुभ भाव, मुझे न भाता ॥२००॥

दो बेड़ियां, कनक की एक लोह की है,
ज्यों एक सी पूरूप को कस बांधती है।
हो कर्म भी अग्रुभ या शुभ क्यों न होवें,
त्यों बाँध ते नियम से जड़ जीव को बे ॥२०१॥

दोनों शुभाशुभ कुशील, कुशील त्यागो
संसर्ग राग इन का तज नित्य जागो,
संसर्ग राग इनका यदि जो रमेगा
स्वाधीनता विनशनी दुख ही महेगा ॥२०२॥

अच्छा व्रतादिक तथा मुर मीठ्य पाना,
स्वच्छन्दता अति बुरी फिर श्वभ्र जाना।
अत्यन्त अन्तर व्रताव्रत में रहा है
द्याया-सुधूप द्वय में जितना रहा है ॥२०३॥

चक्री बनो सुकृत से, सुर सम्पदायें,
नक्षमी मिले अमित दिव्य विलासतायें।
पै पुण्य से परम पावन प्राण प्यारा,
नम्यकत्व हा ! न मिलता मुख का पिटारा ॥२०४॥

देवायुरुण दिवि में कर देव आते,
वे दैव से अवनि वे नर योनि पाते
भोगोपभोग गह जीवन हैं बिताते
यों पुण्य का फन हमें गुरु है बताते ॥२०५॥

वे भोग भोग कर भी नहि फूलते हैं,
मक्की समा विषय में नहि झूलते हैं।
संस्कार है विगत के जिससे सदीव
आत्मानुचितन मुधी करते अनीव ॥२०६॥

पाना मनुष्य भव को जिनदेशना को,
श्रद्धा मरेत मुनना तप माघना को।
वे जान दुर्लभ इन्हें वुघलोक सारे,
काटे कुकुम मृनि हो शिव को पधारे ॥२०७॥



१७ रत्नत्रय सूत्र (आ) व्यवहार रत्नत्रय

तत्त्वार्थ में रुचि हुई, दृग हो वहीं से,
सज्जान हो मनन आगम का सही से ।
सच्चा तपश्चरण चारित नाम पाता,
है मोक्ष मार्ग व्यवहार यही कहाता ॥२०८॥

थद्वान लाभ, बुध दर्शन मे लुटाता,
विज्ञान से सब पदार्थन को जनाता ।
चारित्र धार विधि आस्रव रोध पाता,
अत्यन्त शुद्ध निज को तप से बनाता ॥२०९॥

निस्सार है चरित के विन, ज्ञान सारा,
मम्यक्त्व के विन, रहा मुनि भेप भारा ।
होता न संयम के विना तप कार्यकारी,
ज्ञानादि रत्न त्रय है भव दुःख हारी ॥२१०॥

विज्ञान का उदय हो दृग के विना ना,
होते न ज्ञान विन मित्र ! चरित्र नाना ।
चारित्र के विन न हो शिव मोक्ष पाना,
तो मोक्ष के विन कहाँ सूख का ठिकाना ॥२११॥

हा ! अज्ञ की सब क्रिया उलटी दिशा है
भाई क्रिया रहित ज्ञान व्यथा वृथा है
पंगु लखें अनल को न वचे कदापि,
दौड़े भले ही वह अन्ध जले नयापि ॥२१२॥

विज्ञान संयम मिले फल हाथ आता,
हो एक चक्र रथ को चल औ न पाता ।
होवे परस्पर महायक पंगु अन्धा,
दावाग्नि से वच सके कहने जिनंदा ॥२१३॥

(ग्रा) निश्चय रत्नत्रय सूत्र

संसार में समयसार सुधा मुधारा,
लेता प्रमाण नय का न कभी सहारा ।
होता वही दृग मयी वर बोध धाम
मेरे उमे विनय से शतशः प्रणाम ॥२१४॥

साधू चरित्र दृग बोध समेत पालें,
आत्मा उन्हें समझ आत्म गीत गा लें ।
ज्ञानी नितान्त निज में निज को निहारें
वे अन्त में गुण अनन्त अवश्य धारें ॥२१५॥

ज्ञानादि रत्न त्रय में रत्नीन होना,
धोना कषाय मल को बनना सलोना ।
स्वीकारना न करना तजना किसी को
तू जान मोक्षपथ वास्तव में इसी को ॥२१६॥

सम्यक्त्व है वह निजात मलीन आत्मा
विज्ञान है समझना निज को महात्मा ।
आत्मस्थ आत्म पवित्र चरित्र होता,
जानो जिनागम यही अयि भव्य श्रोता ॥२१७॥

आत्मा मर्दीय यह संयम बोध-धाम,
चारित्र दर्शनमयी लमता ललाम ।
है त्यागरूप सुख कूप, अनूप भूप
ना नेत्र का विषय है नित है अरूप ॥२१८॥



१८ सम्यकदर्शन सूत्र

(अ) व्यवहार सम्यक्त्व और निश्चय सम्यक्त्व

सम्यक्त्व, रस्तनश्चय में वर मुख्य नामी
है मूल मोक्षतरु का, तज काम कामी !
है एक निश्चय तथा व्यवहार दूजा,
होते छि भेद, उनकी कर नित्य पूजा ॥२१९॥

तत्त्वार्थ में रुचि भली भव सिन्धु सेतु
सम्यक्त्व मान उसको व्यवहार से तू
सम्यक्त्व निश्चयतया निज आतमा ही
ऐसा जिनेश कहते शिव राह राही २२०॥

कोई न भेद, दृग में, मुनि मौन में है
माने इन्हें सुबुध 'एक' यथार्थ में है
होता अवश्य जब निश्चय का सुहेतु
सम्यक्त्व मान व्यवहार, सदा उसे तू ॥२२१॥

योगी बनो अचल मंह बनो तपस्वी,
वर्षो भले तप करो, बन के यशस्वी
सम्यक्त्व के बिन नहीं तुम वोधि पाओ
मंमार में भटकते दुख ही उठाओ ॥२२२॥

वे भ्रष्ट हैं पतित, दर्शन भ्रष्ट जो है,
निर्वाण प्राप्त करते न निजात्म को हैं।
चारित्र भ्रष्ट पुनि चारित ले मिजेंगे
पै भ्रष्ट दर्शन तया नहि वे मिजेंगे ॥२२३॥

जो भी मुधा दृगमयी रुचि मंग पीता,
निर्वाण पा अमर हो, चिरकाल जीता
मिथ्यात्व रूप मद पान ग्रे! करेगा
होगा सुखी न, भव में भ्रमता फिरेगा ॥२२४॥

अत्यन्त श्रेष्ठ दृग ही जग में सदा से
माना गया जड़मयी सब संपदा से
तो मूल्यवान्, मणि से कब काच होता ?
स्वादिष्ट इष्ट, धृत से कब छाछ होता ?॥२२५॥

होंगे हुए परम आत्म हो रहे हैं
तत्त्वीन आत्म सुख में नित जो रहे हैं
सम्यक्त्व का सुफल केवल ओरहा है
मिथ्यात्व से दुखित हो जग रो रहा है॥२२६॥

ज्यों शोभता कमलिनि दृगमजु पत्र ।
हो वीर में न सड़ता रहता पवित्र ।
त्यों निष्ठ हो विषय से न मुमुक्षु प्यारे
होते कषाय मल से अति दूर न्यारे ॥२२७॥

धारे विराग दृग जो जिन धर्म पाके,
होते उन्हे विषय, कारण निर्जन के ।
भोगोपभोग करते सब इन्द्रियों में,
साधु सुधी न बेघते विधि बधनों में ॥२२८॥

वे भोग भोग कर भी बुध हो न भोगी,
भोगे बिना जड़ कुधी बन जाय भोगी ।
इच्छा बिना यदि करें कुछ कायं त्यागी,
कर्ता कथं फिर बने ? उनका विरागी ॥२२९॥

ये काम भोग न तुम्हें समता दिलाते,
भाई ! विकार तुम में न कभी जगाते ।
चाहो इन्हें यदि डरो इनसे जभी से,
पायो अतीव दुःख सहसा तभी से ॥२३०॥

(आ) सम्यग्दर्शन अंग

ये अष्ट अङ्ग दृग के, विनिश्चिता है,
निःकांकिता विमलनिर्विचिकित्सना है।
चौथा अमूढपन है उपगृहना को,
धारो स्थितीकरण बलसल भावना को ॥२३१॥

निःशंक हो निडर हो सम-दृष्टि वाले,
मातो प्रकार भय छोड़ स्वगीत गा लें।
निःशंकिता अभयता इक साथ होती,
है भीति हो स्वयम हो भयभीत, रोती ॥२३२॥

कांक्षा कभी न रखता जड़पर्ययों में,
धर्मो-पदार्थ दलके विधि के फलों में।
होता वही मुनि निकांकित अङ्गधारी,
बन्दू उन्हे बन सकूँ द्रुत निर्विकारी ॥२३३॥

मम्मान पूजन न वंदन जो न चाहे,
ओ करा कभी अमण हो निज स्यानि चाहे ?
हो मायमी यति द्रती निज आत्म योजी,
हो भिक्षु नापस वही उसको नमो जी ॥२३४॥

हे योगियो ! यदि भवोदधि पार जाना,
चाहो अनौकिक अपार स्वसौम्य पाना ।
क्यों स्यानि लाभ निज पूजन चाहते हो ?
क्या मोक्ष लाभ उनमे तुम मानते हो ? ॥२३५॥

कोई धृणास्पद नहीं जग में पदार्थ,
सारे सदा परिष्में निज में यथार्थ ।
जानी न ग्लानि करते फलतः किसी से,
बारे तृतीय दृग अङ्ग तभी खुशी से ॥२३६॥

ना मुग्ध मूढ़ मृनि हो जग वस्तुओं में,
हो नीन आप अपने अपने गुणों में।
वे ही महान् समदृष्टि अमृढ़ दृष्टि,
नामाग्र दृष्टि रब नाशत कर्म—मृष्टि ॥२३७॥

चारित्र बोध दृग् मे निज को सजाओ,
धारो क्षमा तप तपो विधि को स्वपाओ।
माया-विमोह-ममता तज मार मारो,
हो वर्धमान, गतमान, प्रमाण धारो ॥२३८॥

जान्मार्थ गीण न करो, न उमे छुपाओ,
विज्ञान का मद घमण्ड नहीं दिखाओ।
भाई किसी मुबुध की न हमी उड़ाओ,
आशीश दो न पर को पर को भुनाओ ॥२३९॥

ज्यों ही विकार लहरें मन में उठें तो,
तत्कान योग त्रय मे उनको समेटो।
अचित्त्य अश्व जव भी पथ भूलता हो
ले नो लगाम कर में अनुकूलता हो ॥२४०॥

हे ! भव्य गीतम ! भवोदधि नैर पाया,
व्यों व्यर्थ ही रुक गया तट पास आया !
ले ने छलांग झट से अब तो धरा पे
आलस्य छोड़ वरना दुख ही वहाँ पे ॥२४१॥

थदा समेन चलते बुध धार्मिकों की
सेवा सुभक्ति करते उनके गुणों की।
भिथी मिले बचन जो नित बोलते हैं
बास्तव्य अङ्ग धरते, दृग् खोलते हैं ॥२४२॥

योगी सुयोगरत हो गिरि हो अकम्पा,
धारो सदैव उर जीव दया जनुकम्पा।
धर्मोपदेश नित दो तज वासना दो,
ऐमा करो कि जिन धर्म प्रभावना हो ॥२४३॥

वादी सुतापस निमिन्न मुशांत्र ज्ञाता,
ध्री भिद्धिमान, वृष्ट के उपदेश दाता।
विद्या-विशारद, कवीश विशेषवक्ता
होता प्रचार इनसे वृष्ट का महत्ता ॥२४४॥



१८ सम्यक्तान् सूत्र

सत् शास्त्र को सुन, हिताहित वोध पाओ,
आदेय हेय समझो, सुख चूंकि चाहो ।
आदेय को झट भजो, तज हेय भाई !
इत्यं न हो कुगति से पुनि हो सगाई ॥२४५॥

आदेय, ज्ञान प्रभु का गिवं पंथं पंथी,
पाके स्वर्में दिचन्ते, तज सर्वग्रंथि ।
सम्यक्तवं योग तपं संयम ध्यान धारे,
काटे कुरुमं, निज जीवन को सुधारें ॥२४६॥

ज्यों ज्यों शुरामुनिधि में डुबकी लगाता,
त्यों त्यों त्रनों नव नवीन प्रसोद पाता ।
वैराग्य भाव बढ़ता श्रुतभावना द्वा,
थदा न हो दृढ़, नरी फिर नामना हो ॥२४७॥

मूची भले ही कर में गिर भी गई तो
खोती कभी न गदि और लगी हुई हो ।
देही ससूत्र गदि तो श्रुत तोध जाता,
होता विनाष्ट भन में न रहे खुशाला ॥२४८॥

भाई भले नुम बनो युध मुर्ल्य जेता,
वक्ता कवि विविध वाढ़मय वेद वेत्ता ।
आराधना यदि नहीं दृग की करोगे,
तो बास-चार तन धार दुखी बनोगे ॥२४९॥

तृ राग को तनिक भी तन में रखेगा.
शुद्धात्म को फिर कदापि नहीं लखेगा ।
होगा विशारद जिनागम में भले ही
आत्मा स्वदीय दुख से भव में रहे ही ॥२५०॥

आत्मा न आत्म अनात्म को लखेगा,
सम्यक्त्व पात्र किस भाँति अहो बनेगा ।
आचार्य देव कहते बन वीतरागी,
क्यों व्यर्थ दुःख सहता, तज राग रागी ॥२५१॥

तत्त्वावबोधि सहसा जिससे जगेगा,
चांचल्यचित्त जिससे वश में रहेगा ।
आत्मा विशुद्ध जिससे शशि सा बनेगा,
होगा वही “विमल ज्ञान” स्व-सौख्य देगा ॥२५२॥

माहात्म्य ज्ञान गुण का यह मात्र सारा,
रागी विराग बनता तज राग खारा ।
मैत्री मदेव जग मे रखता मुचारा,
शुद्धात्म में विचरता, मुख पा अपारा ॥२५३॥

आत्मा अनन्त, नित, शून्य उपाधियों से,
अत्यन्त भिन्न पर से विधि बन्धनों से ।
ऐसा निरन्तर निजात्म देखते हैं
वे ही समग्र जिनशासन जानते हैं ॥२५४॥

हूँ काय से विकल, केवल केवली हूँ
मैं एक हूँ विमल जायक हूँ बली हूँ
जो जानता स्वयम को इम भाँति स्वामी,
निर्धन्ति हो वह जिनागम पारगामी ॥२५५॥

साधू समाधिरत हो निज को विशुद्ध-
जाने, बने महज शुद्ध अवद्ध बुद्ध ।
रागी स्वको समझ राग मर्या विचारा,
होता न मुक्त भव से, दुख हो अपारा ॥२५६॥

जो जानने मुनि निजातम को यदा है,
वे जानने नियम से पर को तदा है,
है जानना स्वपर को इक साथ होता
ऐसा जिनागम रहा, दुख सर्व स्रोता ॥२५७॥

जो एक को महज से मुनि जानते हैं,
वे सर्व को समझते जब जागते हैं।
यों ईश का सदुपदेश सुनो हमेशा ।
मबलेश द्वेष तज शीघ्र बनो महेशा ॥२५८॥

मद्बोधि स्वप मर में ढुको नगा ले
मनपत तू स्नपित हो सुख तृप्ति पा ले।
तो प्रन्त में बल अनन्त ज्वलन्त पाके
विश्राम ले, अमित काल स्वधाम जाके ॥२५९॥

अहंन्त स्वीय गृह को द्रुत जा रहे हैं
वे शुद्ध-द्रव्य गुण पर्यंय पा रहे हैं।
जो जानता यति उन्हें निज जानता है
संमोह कर्म उसका झट भागता है ॥२६०॥

ज्यों विन बाट स्वजनों नहि दूसरों में,
भोगी सुभोग करता दिन रात्रियों में।
पा नित्य जान-निधि, नित्य नितान्त ज्ञानी
त्यों हो सुखी, न रमना पर में अमानी ॥२६१॥

अ

२० सम्यक्कारित्र सूत्र (अ) व्यवहार कारित्र सूत्र

होते सुनिश्चय-नयाश्रित वे अनृप,
चारित्र और तप निश्चय सौरुप कृप।
पै व्यावहार-नय-ग्राश्रित ना स्वरूप
चारित्र और तप वे व्यवहर रूप ॥२६२॥

जो त्यागना अशुभ को शुभ को निभाना
मानो उसे हि व्यवहार चरित्र बाना।
ये गुप्तियाँ समितियाँ व्रत आदि सारे,
जाने सदैव व्यवहारतया पुकारें ॥२६३॥

चारित्र के मुद्दुट से मिर ना सजोगे,
आरुद्र संयममयी रथ पे न होगे।
म्वाध्याय में रत रहो तुम भले ही
ना मुक्ति-मंजिल मिले, दुख ना टले ही ॥२६४॥

देता क्रियारहित जान नहीं विराम,
मार्गज्ञ हो यदि चलो न, मिले न धाम।
किवा नहीं यदि चले अनुकूल वान,
पाता न पोन तट को यह सत्य बान ॥२६५॥

चारित्र-गूण्य न जीवन ही व्यथा है,
तो आगमाध्ययन भी उसकी वृथा है।
अन्धा कदापि कुछ भी जब ना लगेगा
जाज्वन्यमान कर दीपक क्या करेगा ? ॥२६६॥

अत्यन्त भी बहुत ही श्रुत ही उन्हीं का,
जो संयमी, सतत ध्यान धर्ते उन्हीं का।
सागर का बहुत भी श्रुत बोध “भारा”
चारित्र को न जिमने उर्से मुघारा ॥२६७॥

(आ) निश्चय चारित्र

आत्मार्थ आत्म निजातम में समाता,
मच्चा सुनिश्चय चरित्र वही कहाता ।
हे भव्य पावन पवित्र चरित्र पालो
पालो अपूर्व पद को, निज को दिपालो ॥२६८॥

शुद्धात्म को समझ के परमोपयोगी,
है पाप पुण्य तजता धर योग योगी
ओ निर्विकल्प मय चारित्र है कहाता,
मेरे समा निकट भव्यन को सृहाता ॥२६९॥

रागाभिभूत बन तू पर को नखेगा,
भाई शुभाशुभ विभाव खरीद लेगा ।
तो बीतराग मय चारित से गिरेगा
ससार बीच पर चारित से फिरेगा ॥२७०॥

हो अन्तरंग बहिरंग निसग नंगा,
शुद्धात्म में विचरता जब साधु चंगा ।
सम्यक्त्व बोधमय आत्म देख पाता,
आत्मीय चारित सुधारक है कहाता ॥२७१॥

आतापनादि तप में तन को तपाना
अध्यात्म में स्वलित हो ब्रत को निभाना
हे मित्र! बाल तप सयम ओ कहाता,
ऐसा जिनेश कहते, भव में घुमाता ॥२७२॥

लो! मास माम उपवास करे रुचि में,
अत्यल्प भोजन करे, न डरे किसी से ।
पै आत्म बोध बिन मृढ़ ब्रती बनेगा,
ना धर्म लाभ लवलेश उसे मिलेगा ॥२७३॥

चारित्र ही परम धर्म यथार्थ में है,
साधू जिसे शममयी लख साधते हैं।
मोहादि से रहित आत्म भाव प्यारा,
माना गया समय में शम साम्य मारा॥२७४॥

मध्यस्थ भाव समभाव, विराग भाव
चारित्र, धर्ममय भाव, विशुद्ध भाव,
आराधना स्वयम की पद सान सारे
हैं भिन्न-भिन्न, पर आशय एक धारे॥२७५॥

शास्त्रज्ञ हो श्रमण हो समधी तपस्वी,
हो वीतराग व्रत संयम में यशस्वी।
जो दुःख में व सुख में समता रखेगा
शुद्धोपयोग उस ही क्षण में लखेगा॥२७६॥

शुद्धोपयोग दृग है वर बोध-भानु
निर्वाण सिद्ध शिव भी उसको हि जानूँ।
मानूँ उसे श्रमणता मन में त्रिटा लूँ,
वन्दूँ उसे नित नमूँ निज को जगा लूँ॥२७७॥

शुद्धोपयोग वश साधु मुसिद्ध होते,
श्वात्मोत्थ-मातिशय शाश्वत मैर्य जांत,
जाती कही न जिमकी महिमा कभी भी,
अन्यथा छोड जिमको मुख ना कही भी॥२७८॥

वे मोह राग रति रोप नहीं किमी से-
घारें मुमाम्य मुख में दुख में रुची में।
होके बुभुक्तु न हि भिक्षु मुमुक्तु होके
आने हुए मत्र शुभाशुभ कर्म रोके॥२७९॥



(३) समन्वय सूत्र

है बीनगग व्रत माध्य सदा सुहाता,
होता मगग व्रत साधन, साध्यदाता ।
तो पूर्व साधन, अनन्तर साध्य धारो,
संगृण बोध मिलता, शिव को पधारो ॥२८०॥

ज्यों भीनरी कलुपता मिटती चलेगी,
त्यों वाहरी विमलता वद्धती वढ़ेगी ।
देही प्रदोष मन में गवना जभी है,
ओ ! वाह्य दोष महसा करता नभी है ।
रे ! पंक भीनर मरोबर में रहा है
जो वाह्य में जल कलकित हो रहा है ॥२८१॥
मायाभिमान मद मोह विहीन होना,
है भाव शुद्धि जिसमें शिव सिद्धि लोना ।
आनोह में सकलनोक अलोक देखा,
यों दोर ने मदुपदेश दिया मुरंखा ॥२८२॥

जो पंच पाप तज, पावन पुण्य पाना,
हो दूर भी अशुभ में शुभ को जुटाता ।
रागादि भाव फिर भी यदि ना नजेगा
शुद्धान्म को न मुनि होकर भी भजेगा ॥२८३॥
तो आदि में अशुभ को शुभ में मिटाओ,
शुद्धोपयोग बन में शुभ को हटाओ ।
यों ही अनुक्रमण में कर कार्य योगी,
ध्यायो निजात्म-जिन को, मुख शांति होगी ॥२८४॥

चारित्र नाट जब हो दृग बोध घाते,
जाने मुनिद्वय मन्त्री रह वे न पाने
हो वा न हो विनय पै दृग बोध का रे !
जावे चरित्र, मत यों व्यवहार का रे ! ॥२८५॥

श्रद्धापुरी सुरपुरी सम जो सजाओ
ताला वहाँ सुतप संवर का लगाओ
पाताल गामिनि क्षमामय खातिका हो
प्राकार गुप्तिमय हो नभ छू रहा हो ॥२८६

ओ धैर्य मे धनुष-त्यागमयी मुबारो,
सद्ध्यान बान बल मे विधि की विदारो ।
जेता बनो विधि रणांगन के मुनीश !
होवो विमुक्त भव मे जगदीश धीश ॥२८७

२१ साधना सूत्र

उद्बोध प्राप्त कर लो गुरु गीत गा लो,
जीतो क्षुधा विषय मे मन को बचालो ।

निद्राजयी बन दृढ़ासन को लगा लो,
पश्चात् सभी नुम निजातम् ध्यान पालो ॥२८८॥

संपूर्ण जान मय ज्योति शिखा जलेगा
अज्ञान मोह तम पूर्णं तभी मिटेगा ।
हो नष्ट रागरति रोपमयी प्रणाली,
उत्कृष्ट सौर्य मिलता, मिटती भवाली ॥२८९॥

दुःसंग मे बच जिनागम चित्त देना,
एकान्त वाम करना धृतिधार लेना ।
मूर्तार्थं चितन तथा गुरु-वृद्ध मेवा
ये ही उपाय शिव के मिल जाय मेवा ॥२९०॥

हो चाहते मुनि पुनीत समाधि पाना,
माथी, ब्रती श्रमण या ब्रुध को बनाना ।
एकान्तवास करना भय त्याग देना,
शास्त्रानुसार मित भोजन मात्र लेना ॥२९१॥

जो अल्प, शुद्ध, तप वर्धक अन्न लेते
क्या वैद्य औषध उन्हे कृच्छ्र काम देते ?
ना गृद्धता अशन में रखने न लिप्सा
वे वैद्य हो, कर रहे अपनी चिकित्सा ॥२९२॥

प्रायः अनीव रसमेवन हानिकारी,
उन्मत्तता उछलतो उमसे विकारी ।
पक्षी समूह, फल-फूल-नदे द्वुमों को,
ज्यों बाट दें, मदन त्यों विपदी जनों को ॥३९३॥

जो सर्व-इन्द्रिय जयी मित भोज पात,
एकान्त में शयन आसन भी लगाते
रागादि दोष, उनको लख काँप जाते
पीते दवा उचित, रोग विनाश पाते ॥२९४॥

आ, व्याधियां न जब लौं तुमको सतातीं ।
आती जरा न जब लौं तन को सुखाती ।
ना इन्द्रियाँ शिथिल हों जब लौं तुम्हारी
धारो स्वधर्म तब लौं शिव सौन्ध्यकारी ॥२९५॥



२२ विधि धर्म

सन्मार्ग हैं थ्रमण श्रावक भेद से दो,
उन्मार्ग शेष, उनको तज शीघ्र से दो ।
मृत्युंजयी अजर है अज है बली है,
ऐसा सदा कह रहे जिन केवली हैं ॥२९६॥

“स्वाध्याय ध्यान” यति धर्म प्रधान जानो,
भाई विना न इनके यति को न मानो ।
है धर्म, श्रावक करे नित दान पूजा,
ऐसा करे न, वह श्रावक है न दूजा ॥२९७॥

होता सुशोभित पदो अपने गुणों से,
साधू सुमस्तुत वही सब श्रावकों से ।
पै साधु हो यदि परिग्रह भार धारे
सागार श्रेष्ठ उनसे गृहधर्म पारे ॥२९८॥

कोई प्रलोभवश साधु बना हुआ हो
पै शाकितहीन व्रत पालन में रहा हो
तो श्रावकाचरण ही करता कराता,
ऐसा जिनेश मत है हमको बताता ॥२९९॥

श्री श्रावकाचरण में व्रत पंच होते,
है सात गील व्रत ये विधि पंक होते ।
जो एक या इन व्रतों सबको निभाता,
है भव्य श्रावक वही जग में कहाता ॥३००॥

२३ श्रावकधर्मं सूत्र-

चरित्र धारक गुरो ! करुणा दिखा दो,
चारित्र का विधि विधान हमें सिखा दो ।
ऐसा सदैव कह श्रावक भव्य प्राणी,
चारित्र धारण करें सुन मन्त्र वाणी ॥३०१॥

जो सप्तधा व्यसन सेवन त्याग देते,
भाई कभी फल उदुम्बर खा न लेते ।
वे भव्य दर्शनिक श्रावक नाम पाते,
षीमान धार दृग को निज धाम जाते ॥३०२॥

रे मद्यपान परनारि कुशीन खोरी
अस्त्यन्त कूरतम दंड, शिकार चोरी
भाई असत्यमय भाषण दूत कीड़ा
ये सात हैं व्यसन, दें दिन-रेत पीड़ा ॥३०३॥

है मांस के अशन मे मति दर्प छाता,
तो दर्प मे मनुज को मद पान भाता ।
है मद्य पीकर जुआ तक खेन लेता
यों मर्वं दोष करके दुख मोन लेता ॥३०४॥

रे मांस के अशन मे जब व्योम गामी,
आकाश मे गिर गया वह विप्र स्वामी,
ऐसी कथा प्रचलित सबने सुनी है ।
वे मांस भक्षण अनः तजते गुणी हैं ॥३०५॥

जो मद्य पान करते मदमन होते,
वे निन्द्य कार्य करते दुख बीज बोते ।
सर्वत्र दुःख महते दिन रेत रोते,
कैसे बने फिर सुखी जिन धर्म खोते ॥३०६॥

निष्कम्प मेरू सम जो जिन भक्ति न्यारो,
जागी, विराग जननी उर मध्य प्यारी ।
वे शल्यहीन बनते रहते खुशी से,
निश्चिन्त हो, निढर, ना डरते किसी से ॥३०७॥

संसार में विनय की गरिमा निराली,
है शत्रु मित्र बनता मिलती गिवाली ।
धारे अतः विनय श्रावक भव्य सारे,
जावे सुशीघ्र भववारिघि के किनारे ॥३०८॥

हिसा, मृषावचन, स्तेय कुशीये लता,
मूर्च्छा परिग्रह इन्हीं वग हो व्यथायें ।
हैं पंच पाप इनका इक देश त्याग—
होता अणुव्रत, धरें जग जाय भाग ॥३०९॥

हा ! बंध छेद वध निर्बंल प्राणियों का,
संरोध अन्न जल पाशव मानवों का ।
क्रोधादि से मत करो टल जाय हिसा,
जो एक देश व्रत पालक हो अर्हिसा ॥३१०॥

भू-गो सुता-विषय में न असत्य लाना,
झूठी गवाह न धरोहर को दबाना ।
यों स्थूल सत्य व्रत है यह पंचधारे,
मोक्षेच्छु श्रावक जिसे रुचि संग धारे ॥३११॥

मिथ्योपदेश न करो सहसा न बोलो,
स्त्री का रहस्य अथवा पर का न खोलो ।
ना कूट लेखन लिखो कुटिलाइता से,
यों स्थूल सत्य व्रत धार बचो व्यथा से ॥३१२॥

राष्ट्रानुकूल चलना “कर” न चुराना,
ले चौर्य द्रव्य नहि चोरन को लुभाना ।
धंधा मिलावट करो न, अचौर्यं पालो,
हा ! नापतोल नकली न कभी चलालो ॥३१३॥

स्त्री मात्र को निरखते भविकारता से,
क्रीड़ा अनंग करते न निजी प्रिया से ।
होते कदापि न हि अन्य-विवाह पोषी,
कामी अतीव बनते न स्वदारतोषी ॥३१४॥

निस्सीम संग्रह परिग्रह का विधाता,
है दोष का, बस रमानल में गिराता ।
तृष्णा अनन्त बढ़ती सहसा उसी से,
उद्दीप्त ज्यों अनल दीपक तेल-धी से ॥३१५॥

ग्राहस्थ्य के उचित जो कुछ काम हैं
सागर सीमित परिग्रह को रखे हैं ।
सम्यक्त्व धारक उम न कभी बढ़ावें
रागाभिभूत मन को न कभी बनावें ॥३१६॥

अत्यल्प ही कर निया परिमाण भाई !
लेउँ पुनः कुछ जहरत जो कि आई
ऐसा विचार तक ना नुम चित्त लाश्रो
संतोष धार कर जोवन को चनाश्रो ॥३१७॥

है सात शील व्रत श्रावक भव्य प्यारे !
सातों व्रतों फिर गुणब्रत तीन न्यारे ।
देशावकाशिक दिशा विरती सुनो रे !
आनर्थ दण्ड विरती इनको गुणो रे ! ॥३१८॥

सीमा विधान करना हि दसों दिशा में,
माना गया वह दिग्गाव्रत है धरा में ।
आरम्भ सीमित बने इस कामना से,
सागर साधन करे इसका मुदा से ॥३१९॥

होते विनष्ट व्रत हो जिम देश में ही,
जाग्रो वहाँ मन कभी स्वप्न में भी ।
देशावकाशिक वही क्रृषि देशना है,
धारो उमे विनश्ती चिर वेदना है ॥३२०॥

है व्यर्थ कार्य करना हि अनर्थ दण्ड,
है चार भेद इसके अधस्व भ्रकुण्ड ।
हिसोपदेश, अति हिसक शस्त्र देना,
दुर्ध्यान यान चढ़ना, नित मन होना ।
होना मंदुर इनमे वहु कर्म स्वोना,
आनर्थ दण्ड विरनी तुम गीघ लो ना ! ॥३२१॥

अत्यन्प बन्धन आवश्यक कार्य मे हो,
अन्यन्त बन्ध अनवश्यक कार्य मे हो ।
कालादि क्यों कि इक में महयोगी होते,
पै अन्य में जब अपेक्षित वे न होते ॥३२२॥

ज्यादा बक्तो मन रखो अघ शस्त्र को भी,
तोड़ो न भोग परिमाण बनो न लोभी ।
भड़े कभी बचन भी हँसने न बोलो ॥
ना अंग व्यंग करने दृग मेच स्वोलो ॥३२३॥

है संविभाग अनिथि व्रत मोक्षदाता,
भोगोपभोग परिमाण मुखी बनाता ।
शुद्धात्म सामयिक औपध मे दिल्लाता
यों चार शंक्ष्यव्रत है यह छन्द गाता ॥३२४॥

ना कन्द मूल फल फूल पलादि स्वाग्रो ।
रे ! स्वप्न में नक इन्हें मन में न नाग्रो ।
ओ कूर कार्य न करो, न कभी कराओ
आजीविका बन अहिसक ही चलाओ ।
यों कार्य का अशन का परिमाण बांधो,
भोगोपभोग परिमाण सहर्ष साषो ॥३२५॥

उत्कृष्ट, सामयिक से गृह धर्म भाता,
मावद्यकर्म जिससे कि विराम पाता ।
यों जान मान बुध हैं अघ त्याग देने,
आत्मार्थ सामयिक साधन साध लेने ॥३२६॥

मागार सामयिक में मन ज्यों लगाता,
नच्चे मुषी श्रमण के सम साम्य पाता ।
हे भव्य सामयिक को अतएव धारो,
भाई किसी तरह मे निज को निहारो ॥३२७॥

आ जाय सामयिक में यदि अन्य चिना-
तो आतंध्यान बनता दुख दे तुरन्ता ।
निस्सार सामयिक हो उसका नितान्त,
संमार हो फिर भला किस भाँति मांत ? ॥३२८॥

संस्कार है न तन का न कुशीलता है,
आरम्भ ना अशन प्रोष्ठ में तथा है ।
लो पूर्ण त्याग इनका इक देश या लो,
धारो मुसामायिक, प्रोष्ठ पूर्ण^१ पालो ॥३२९॥

दो शुद्ध भ्रन्त यति को समयानुकूल,^२
देशानुकूल, प्रतिकूल कभी न भून ।
तो संविभाग अतिथिद्रत ओ बनेगा,
रे ! स्वं मोक्ष क्रमवार अवश्य देगा ॥३३०॥

आहार और अभय औषध और शास्त्र,
ये चार दान जग में सुख पूर-पात्र ।
दातव्य हैं अतिथि के अनुमार चारों,
सागार शास्त्र कहता, धन को बिसारो ॥३३१॥

- १ जो पूर्ण प्रोष्ठ करता है वह नियम से सामयिक करे ।
२ समय (आगम) के अनुकूल और समय (काल) के अनुकूल ।

सागार मात्र इक भोजन दान से भी,
लोधन्य धन्यतम हो धनवान से भी।
दुःपात्र पात्र इम भाँति विचार से क्या ?
ले आम पेट भर ले !! वस पेड़ से क्या ? ॥३३२॥

शास्त्रानुकूल जल अन्न दिये न जाते,
भिक्षार्थं भिक्षुक वहाँ न कदापि जाते
वे धीर वीर चलने समयानुकूल,
लेते न अन्न प्रतिकूल कदापि भूल ॥३३३॥

मागार जो अशन को मुनि को खिलाके,
पश्चात सभी मुदित हो अवशेष पाके।
वे स्वर्ग मोक्ष क्रमवार अवश्य पाते,
मंसार में फिर न कदापि न लौट आते ॥३३४॥

जो काल मे डर रहे उनको वचाना,
माना गया अभयदान अहो मुजाना !
है चंद्रमा अभयदान ज्वलन्त दीखे,
तो शेष दान उडु है पड़ जाय फीके ॥३३५॥

२४ श्रमण धर्म सूत्र

ये वीत राग अनगार भदंत प्यारे,
साधू ऋषी श्रमण संयत सन्त सारे ।
शास्त्रानुकूल चलते हमको चलाते,
वन्दूं उन्हें विनय से शिर को झुकाते ॥३३६॥

गंभीर नीर निधि से, शशि से सुशान्त,
सर्वसहा अवनि से, मणि मजुकान्त ।
तेजो मयी अरुण से, पशु से निरीह,
आकाश से निरवलम्बन ही सदीह ॥१॥

निस्संग वायु समा, सिंह समा प्रतापी,
मथाई रहे उरग से न कही कदापि ।
अत्यन्त ही मरन हैं मृग मे, मुडोन
जो भद्र है वृषभ मे गिरि मे अडोन ॥२॥

स्वाधीन माधु गन मादृश स्वाभिमानी
वे मोक्ष गोध करते सुन सन्त वाणी ॥३३७॥

है लोक में कुछ यहाँ फिरते अमाधु,
भाई तथापि मव वे कहनाते माधु ।
मैं तो अमाधु-जन को छह दूँ न माधु
पै माधु के स्नवन मैं मन को लगा दूँ ॥३३८॥

मम्यकन्व के मदन हो वर-बोध-धाम,
गोभे मुमग्नतया तप मे लवाम ।
ऐसे विशेष गुण आकर हो मुमाधु,
तो वार-वार शिर मैं उनको नवादूँ ॥३३९॥

एकान्त मे मुनि, न कानन-वास मे हो
स्वामी नहीं थ्रमण भी कचलोच मे हो ।
ओंकार जाप जप, ब्राम्हण ना बनेगा,
छालादि को पहन तापस ना कहेगा ॥३४०॥

विज्ञान पा नियम मे मुनि हो यशस्वी,
सम्यकतया तप तपे तब हो तपस्वी ।
होगा वही थ्रमण जो समता धरेगा,
पा ब्रह्मचर्य फिर ब्राम्हण भी बनेगा ॥३४१॥

हो जाय साधु गुण, पा गुण खो असाधु,
होवो गुणी, अवगुणी न बनो न स्वादु ।
जो गग रोष भर मे समझाव धारें,
वे बन्द्य पूज्य निज मे निज को निहारें ॥३४२॥

जो देह मे रम रहें विषयी कषायी,
शुद्धास्म का स्मरण भी करते न भाई !
वे साधु होकर बिना दृग, जो रहे हैं,
पीयूष छोड़कर हा ! विष पी रहे हैं ॥३४३॥

भिक्षार्थं भिक्षु चलते बहु दृश्य पाते,
अच्छे बुरे श्रवण मे कुछ शब्द आते ।
वे बोलते न फिर भी सुन मौन जाते
लाते न हर्ष मन मे न विषाद लाते ॥३४४॥

इवाध्याय ध्यान तप मे घर्ति मरन होते,
जो दीर्घ काल तक हैं निशि मे न मोते ।
तत्त्वार्थं चितन सदा करते मनस्वी,
निद्राजर्यः इमलिए बनते तपस्वी ॥३४५॥

जो अग संग रखता ममता नहीं है,
है संग-मान तजता समता धनी है
है साम्यदृष्टि रखता सब प्राणियों में,
ओ माधु धन्य, रमना नहि गारवों में ॥३४६॥

जो एक मेरण जीवन को निहारे,
निन्दा मिले यश मिले सम भाव धारे।
मानापमान, मुख-दुःख समान माने,
वे धन्य माधु, सम लाभ अलाभ जाने ॥३४७॥

आनन्द्य--हास्य तज शोक अशोक होने,
ना शल्य गारव कपाय निकाय दोने।
ना भीति वधन-निदान-विधान होने,
वे माधु वन्द्य हम को, मन मैल धोने ॥३४८॥

हो अग राग अथवा क्षिद जाय अग,
भिक्षा मिलो, मन मिलो इक सार ढग।
जो पारलौकिक न लौकिक चाह धारे,
वे माधु ही वम ! बमे उर मे हमारे ॥३४९॥

है हेय भृत विधि आनन्द रोक देते,
आदेय भृत वर मंवर लाभ नेते।
अध्यात्म ध्यान यम योग प्रयोग द्वारा,
है माधु लीन निज में तज भोग सारा ॥३५०॥

जीतो सहो दृगसमेत परीपहों को
शीतोष्ण भीति रति प्यास क्षुधादिकोंको ।
स्वादिष्ट इष्ट फल कायिक कष्ट देता,
ऐसा जिनेश कहते शिव पन्थ नेता ॥३५१॥

शास्त्रानुसार तब ही तप साधना हो,
ना बार बार दिन में इक बार खाओ ।
ऐसा कृषीश उपदेश सभी मुनाते,
जो भी चले तदनुसार स्वधाम जाते ॥३५२॥

मासोपवास करना वनवास जाना,
आतापनादि तपना तन को मुखाना ।
सिद्धान्त का मनन, मौन सदा निभाना,
ये छ्यर्य हैं श्रमण के विन माम्य बाना ॥३५३॥

विज्ञान पा प्रथम, संयत भाव धारो,
रे ! ग्राम में नगर में कर दो विहारो ।
संवेग शान्तिपथ पे गममान होवो,
होके प्रमत्त मत गौतम ! काल खोप्रो ॥३५४॥

होगा नहीं जिन यहाँ, जिन धर्म आगे,
मिथ्यात्व का जब प्रचार नितान्त जागे ।
हे ! भव्य गौतम ! अतः अब धर्म पाया,
धारो प्रमाद पन भी न, जिनेश गाया ॥३५५॥

हो बाह्य भेष न कदापि प्रमाण भाई !
देता जभी तक असंयत में दिखाई ।
रे वेष को बदल के विष जो कि पीता ।
पाता नहीं मरण क्या -रह जाय जीता ? ॥३५६॥

हो लोक को विदित ये जिन साधु आये,
शास्त्रादि साधन सुभेष अतः बनाये ।
ओ बाह्य संयम न, लिंग बिना चलेगा,
जो अंतरंग यम साधन भी बनेगा ॥३५७॥

ये दीखते जगत में मुनिसाधुओं के,
है भेष, नैक विघ भी गृहवासियों के !
वे अज्ञ मूढ़ जिनको जब धारते हैं,
है मोक्ष मार्ग यह यों बस मानते हैं ॥३५८॥

निस्सार मुष्टि वह अन्दर पोल वाली—
बेकार नोट यह है नकली निराली ।
हो काँच भी चमकदार सुरत्न जैसा,
ज्यों जोहरी परखता नहि मूल्य पंसा ।
पूर्वोक्त द्रव्य जिस भाँति मुधा दिखाते,
है मात्र भेष उस भाँति सुधी बताते ॥३५९॥

है भाव लिङ्ग वर मुस्त्य अतः मुहाता,
है द्रव्य लिङ्ग परमार्थ नहीं कहाता ।
है भाव ही नियम से गुण दोष हेतु,
होता भवोदधि वही भव सिन्धु मेनु ॥३६०॥

ये “भाव शुद्धतम हो” जब लक्ष होता,
है बाह्य संग तजना फलरूप होता ।
जो भीतरी कलुषता यदि ना हटाता,
तो बाह्य त्याग उसका वह व्यर्थ जाना ॥३६१॥

जो अच्छ स्वच्छ परिणाम बना न पाने,
पे बाहरी सब परिग्रह को हटाने ।
वे भाव-शून्य करनी करते करने,
लेते न लाभ शिव का दुख ही उठाने ॥३६२॥

काषायिकी परिणती जिसने घटा दी,
औ निन्द्य जान तन की ममता मिटा दी ।
शुद्धात्म में निरत है तज संग संगी,
हो पूज्य साधु वह पावन भाव लिगी ॥३६३॥

— —

२५ व्रत सूत्र

हिमादि पंच अघ हैं तज दो अघों को,
पालो मभी परमपञ्च महाव्रतों को ।
पञ्चान् जिनोदिन पुनीत विरागता का,
आम्बाद लो, कर अभाव विभावता का ॥३६४॥

वे ही महाव्रत नितान्त मुमाधु धारें,
निःशल्य हो विचरने त्रय शल्य टारें।
मिथ्या निदान व्रतधातक शल्य माया
एमा जिनेश उपदेश हमें मुनाया ॥३६५॥

है मोक्ष की यदि व्रती करता उपेक्षा,
चारित्र ले विषय की रखता अपेक्षा ।
तो मृढ़ भूल मणि जो अनमोल, देना
धिकार काँच मणि का वह मोल लेना ॥३६६॥

जो जीव थान, कुल मार्गण योनियों में,
पा जीवबोध, करुणा रखना मवो में।
आरम्भ त्याग उनकी करता न हिमा,
हो माधु का विमल भाव वहो अहिंसा ॥३६७॥

निर्वयं है परम पावन ग्रागमा का,
भाई! उदार उर धार्मिक ग्राथमो का ।
सारे त्रों सदन है, सब मदगुणों का,
प्रादेय है विमल जावन साधुप्रो का ।
है विश्वसार जयवन्त रहे अहिमा,
हानी रहे सतत ही उसकी प्रगमा ।३६८॥

ना ऋष भीतिवश स्वार्थ तराजु तोलो,
लेभो न मोल अघ हिसक बोल बालो ।
होगा द्वितीय व्रत सत्य वहो तुम्हारा,
आनन्द का सदन जीवन का महारा ॥३६९॥

जो भी पदार्थ परकीय उन्हे न लेते,
वे साधु देखकर भी बस छोड़ देते।
है स्तेय भाव तरु भी मन में न लाते,
अस्तेय है व्रत यहीं जिन यों बताते ॥३३०॥

ये द्रव्य चेतन अचेतन जो दिखाते,
माधू न भूलकर भी उनको उठाते।
ना दाँत साफ करने तक सीरु लेते,
अत्यन्त भी विन दिये कुछ भी न लेते ॥३३१॥

भिक्षार्थ भिक्षु जब जार्य, वहाँ न जार्य,
जो स्थान वर्जित रहा अध हो न पाय।
वे जार्य जान कुल की मित भर्मि लो ही,
अस्तेय धर्म परिपालन थंग मो ही ॥३३२॥

अबह्य मेवन अवश्य अधर्म मूल।
है दोष धाम द्रव दे जिग भानि शून।
निर्गन्ध वे इमलिए मव प्रन्ध न्यागी,
मेवे न मैयन कभी मुनि वीतगागी ॥३३३॥

माना मुना वहन सी लम्बना स्त्रियों को,
नारी कथा न करना भजना गुणों को।
श्री ब्रह्मचर्य व्रत है यह मार हन्ता,
है पूज्य वन्द्य जग में मुख दे अनन्ता ॥३३४॥

जो अन्तरग वहिण निमग होता,
भोगाभिलाप विन चारित भार ढोता
है पाँचवाँ व्रत “परिग्रह न्याग” पाता,
पाता स्वकीय मुख, न दुख क्यों उठाता ? ॥३३५॥

दुर्गन्ध अंग तक "संग" जिनेश गाया,
यों देह से खुद उपेक्षित हो दिखाया ।
क्षत्रादि बाह्य सब संग अतः विसारो,
होके निरीह तन से तुम मार मारो ॥३७६॥

जो मांगना नहि पड़े गृहवासियों से,
ना हो विमोह ममतादिक भी जिन्हों मे ।
एं मे परिग्रह रखें उपयुक्त होवे,
पै अन्य भी अनुपयुक्त न माधु दोवें ॥३७७॥

जो देह देश-ध्रम-काल बनानुसार,
आहार ले यदि यती करता विहार ।
नो अन्य कर्म मल से वह लिप्त होता,
ओचित्य एक दिन है भव मुक्त होता ॥३७८॥

जो बाह्य में कुछ पदार्थ यहाँ दिखाते,
वे वस्तुतः नहि परिग्रह है कहाने ।
मूर्छा परिग्रह परन्तु यथार्थ में है,
श्री वीर का सदुपदेश मिला हमें है ॥३७९॥

ना संग संकलन संयत हो करो रे !
शास्त्रादि साधन मुचारु मदा धरो रे ।
ज्यों संग की विहग ना रखने अपेक्षा
त्यों संयमी ममरसी, सबकी उपेक्षा ॥३८०॥

आहार-पान-शयनादिक खूब पाते,
पै अल्प में सकल कार्य सदा चलाते ।
मंतोष-कोष, गतरोष, अदोष साधु,
वे धन्य धन्यतर हैं शिर मैं नवा दूं ॥३८१॥

ना स्वप्न में न मन में न किसी दशा में,
लेते नहीं अग्नि वे मुनि हैं निशा में ।
जिह्याजयी जितकषाय जिताक्ष योगी,
कैसे निशाचर बनें, बनते न भोगी ॥३८२॥

आकीर्ण पूर्ण धरती जब थावरों से,
मूक्षमातिसूक्ष्म जग जंगम जंतुओं में :
वे रात्रि में न दिखते युग लोचनों में,
कैसे बने अशन शोधन साधुओं में ? ॥३८३॥

२६ समिति गुप्ति सूत्र

(अ) अष्ट प्रबचन माता

ईर्या रही समिति आद्य द्वितीय भाषा,
तीजी गवेषप धरे नश जाय आशा ।
आदान निक्षिपण-पृष्ठनिधान चौथा
व्युत्सर्ग पचम रही सुन भव्य श्रोता ।
कायादि भेद वश भी त्रय गुर्तियाँ हैं,
ये गुर्तियाँ समितियाँ जननी समा है ॥३८॥

माता स्वकीय सुन की जिम भाँति रक्षा,
कर्त्तव्य मान करती, बन पूर्ण दक्षा,
गुर्त्यादि अष्ट जननी उम भाँति सारी,
रक्षा मुग्धनत्रय की करती हमारी ॥३९॥

निर्दोष मे चर्गत पालन पोपनाथं,
उल्लेखिता समितियाँ गुरु मे यथार्थ ।
ये गुर्तिया इसलिये गुरु ने बताई,
कापादिकी परिणती मिट जाय भाई ! ॥३८॥

निर्दोष गुर्तित्रय पालक माधु जैमे,
निर्दोष हो समितिपालक ठीक वैमे ।
वे तो अगुप्ति भद्र-मानस-मेल धोते,
ये जगने समिति-जात प्रमाद खोते ॥३९॥

जी जाय जोव अथवा मर जाय हँसा,
ना पालना समितियाँ बन जाय हिसा ।
होती रहे वह भले कुछ बाह्य हिसा,
तू पालता समितियाँ पलती प्रहिसा ॥३१॥

जो पानते समितियाँ, तब द्रव्य हिंसा,
होती रहे, पर कदापि न भाव हिंसा ।
होनी असंयमतया वह भाव हिंसा,
हो जीव का न वध पै बन जाय हिंसा ॥३८९॥

हिंसा द्विधा सतत वे करते कराते,
जो मत्त संयत असंयत हैं कहाते ।
पै अप्रमत्त मुनि धार द्विधा अहिंसा,
होने गुणाकर, करुं उनकी प्रशंसा ॥३९०॥

आता यती समिति से उठ बैठ जाता,
भाई नदा यदि मनो मर जीव जाता ।
साधू तथापि नहि है अधकर्म पाता,
दोषी न हिंसक, अहिंसक ही कहाता ॥३९१॥

संपोह को तुम परियह नित्य मानो,
हिंसा प्रमाद भर को सहमा विछानो ।
अध्यात्म आगम अहो इस भान्ति गाता,
भव्यात्म को सतत शान्ति मुषा पिलाता ॥३९२॥

ज्यों पथिनी वह सचिक्कन पत्रवाली,
हो नीर में न सड़ती रहती निराली ।
त्यों माधु भी समितियाँ जब पालता है,
ना पाप लिप्त बनता सुख साधना है ॥३९३॥

आचार हो समितिपूर्वक दुःख-हन्ता,
हे धर्म-वर्धक तथा सुख-यान्ति-कर्ता ।
हे धर्म का जनक चालक भी वही है ।
घारो उमे मुक्ति की मिलनी मही है ॥३९४॥

आता यती विचरता, उठ बैठ, जाता,
हो सावधान तन को निशि में सुलाता ।
ओ, बोलता, अशन एषण साथ पाता,
तो पाप कर्म उसके नहि पास आता ॥३९५॥

(आ) समिति

हो मार्ग प्रासुक, न जीव विराधना हो,
जो चार हाथ पथ पूर्ण निहारना हो ।
ले स्वीय कार्य कुछ पैदिन में चलोगे,
इर्यामयी समिति को तब पा सकोगे ॥३९६॥

संसार के विषय में मन ना लगाना,
स्वाध्याय पंच विध ना करना कराना ।
एकाग्र चित्त करके चलना जभी हो,
ईर्या सही समिति है पलती तभी ओ ॥३९७॥

हों जा रहे पशु यदा जल भोज पाने,
जाओ न सन्निकट भी उनके सयाने ।
हे साधु ! ताकि तुम से भय वे न पावें,
जो यत्र तत्र भय से नहिं भाग जावे ॥३९८॥

आत्मार्थ या निजपरार्थं परार्थं साधु,
निम्नसार भाषण करे न, स्वधर्मं न्वादु ।
बोले नहीं वचन हिंसक मर्म-भेदी,
भाषामयी समिति पालक आत्म-वेदी ॥३९९॥

बोलो न कर्ण कटु निन्द्य कठोर भाषा,
पावे न ताकि जग जीव कदापि त्रासा ।
हो पाप बन्ध वह सत्य कभी न बोलो,
घोलो मुधा न विष में, निज नेत्र खोलो ॥४००॥

हो एक नेत्र नर को कहना न काना,
और चोर को कुटिल चोर नहीं बताना ।
या रुग्ण को तुम न रुग्ण कभी कहो रे !
ना ! ना ! नपुंसक नपुंसक को कहो रे ॥४०१॥

साधू करे न परन्दिन आत्म-शंसा,
बोले न हास्य, कटु-कर्कश-पूर्ण भाषा ।
स्वामी ! करे न विकथा, मितमिष्ट बोले,
भाषामयी समिति में नित ले हिलोरे ॥४०२॥

हो स्पष्ट हो विषद संशय नाशिनी हो,
हो श्राव्य भी सहज हो सुख कारिणी हो ।
माधुर्य - पूर्ण मित मार्दव-मार्थ-भाषा
बोले महामुनि, मिले जिम्मे प्रकाशा ॥४०३॥

जो चाहता न फल दुर्लभ भव्य दाता,
माधु अयाचक यहाँ विरला दिखाता ।
दोनों नितान्त द्रुत ही निज धाम जाते,
विश्रान्त हो महज में सुख शान्ति पाते ॥४०४॥

उत्पादना-अशन-उद्गम दोष हीन-
आवाम अन्न शयनादिक ले, स्वलीन ।
वे एषणा समिति साधक माधु प्यारे,
हो कोटिः नमन ये उनको हमारे ॥४०५॥

आस्वाद प्राप्त करने वन कान्ति पाने,
लेने नहीं अशन जीवन को बढ़ाने ।
पै माधु ध्यान तर संयम वाध पाने,
लेने अनः अशन अल्प अये ! मयाने ॥४०६॥

गाना मुना गुण गुणा गण पट् पदों का,
पीता पराग रम फूल-फलों दलों का ।
देना परन्तु उनको न कदापि पीड़ा,
होना मृत्यु, करना दिन-रैन क्रीड़ा ॥४०७॥

दाना यथा विधि यथाबल दान देने,
देने बिना दृख उन्हे मुनि दान लेने ।
यों माधु भी भ्रमर में मृदुता निभाते,
वे एपणा समिति पालक हैं कहाते ॥४०८॥

उद्दिष्ट, प्रामुक भने, यदि अन्न लेने,
वे माधु, दोष मल में व्रत फेंक देने ।
उद्दिष्ट भोजन मिले, मुनि वीतरागी,
शास्त्रानुसार यदि ले, नहि दोषभागी ॥४०९॥

जो देखभान, कर मार्जन पिच्छिका मे,
शास्त्रादि वस्तु रखना गहना दया से ।
आदान निक्षिपण है समिति कहाती,
पाले उसे सतत साधु, मुखी बनाती ॥४१०॥

एकान्त हो विजन विस्तृत ना विरोध,
मम्यक जहाँ बन सके त्रस जीव शोध ।
ऐसा अचित थल पे मलमूत्र त्यागे
ब्युत्सर्गरूप-समिती गह साधु जागे ॥४११॥

आरम्भ में न ममरम्भन में लगाना,
संसार के विषय से मन को हटाना ।
होती तभी मनसगृहि सुमुक्ति-दात्री,
ऐसा कहें श्रमणश्री जिन शास्त्र-शास्त्री ॥४१२॥

आरम्भ में न समरम्भन में लगाते,
सावद्य से वचन योग यती हटाते ।
होती तभी वचन गुप्ति सुखी बनाती,
कैवल्य ज्योति भट में जब जो जगाती ॥४१३॥

आरम्भ में न समरम्भन में लगाते,
ना काय योग अघ कर्दम में फसाते ।
ओ कायगुप्ति, जड़काय विनाशनी है,
विज्ञान-पंकज-निकाय विकाशती है ॥४१४॥

प्राकार ज्यों नगर की करता सुरक्षा,
किंवा सुवाड कृषि की करती सुरक्षा ।
त्यों गुणित्या परम पञ्च महाब्रतों की,
रक्षा मदैव करती मुनि के गुणों की ॥४१५॥

जो गुणित्याँ नमितियाँ नित पालते हैं,
मध्यकन्या स्वयम को कृषि जानते हैं ।
वे शीघ्र बोध बल दर्शन धारते हैं,
गंभार मागर किनार निहारते हैं ॥४१६॥

हो भेद जानमय भानु उदीयमान,
मध्यम्थ भाव वश चारित हो प्रमाण ।
ऐसे चरित्रगुण में पुनि पुष्टि लाने,
होते प्रतिक्रमण आदिक ये सयाने ! ॥४१७॥

मद्ध्यान में श्रमण अन्तर्गथान होके,
रागादिभाव पर हैं पर भाव गोके ।
वे ही निजानमवशी यति भव्य प्यारे,
जाने अवश्यक कहे उन कार्य सारे ॥४१८॥

भाई तुझे यदि अवश्यक पालना है,
होके समाहित स्व में मन मारना है ।
हीराभ सामायिक में स्तुति जाग जाती
सम्मोह तामस निशा झट भाग जाती ॥४१९॥

जो साधु हो न पडवश्यक पालता है,
चारित्र से पतित हो सहता व्यथा है ।
आत्मानुभूति कब हो यह कामना है,
आनन्द त्याग पडवश्यक पालना है ॥४२०॥

सामायिकादि पडवश्यक साथ पाने
जो साधु निश्चय सुचारित पूर्ण प्यारे
वे वीतरागमय शुद्धचरित्र धारी,
पूजो उन्हें परम उम्मति हो नुम्हारी ॥४२१॥

आलोचना नियम आदिक मूर्त्तमान,
भाई प्रतिक्रियण शादिक प्रत्यर्थ्यान ।
स्वाध्याय ये, चरितस्वप गये न माने,
चारित्र आन्तरिक आत्मिक है सयाने ! ॥४२२॥

संवेगधारक यथोचित शक्तिवाले,
ध्यानाभिभूत षडवश्यक साधु पाले ।
ऐसा नहीं यदि बने यह श्रेष्ठ होगा,
श्रद्धान तो दृढ़ रखो, इति मोक्ष होगा ॥४२३॥

सामायिकं जिनप की स्तुति बन्दना हो,
कायोतसर्गं समयोचित साधना हो,
सच्चा प्रतिक्रियण हो अघप्रत्यर्थ्यान
पाले मुनोश षडवश्यक बुद्धिमान ॥४२४॥

लो ! काँच को कनक को सम ही निहारे,
बैरी सरोदर जिन्हें इक्सार सारे ।
स्वाध्याय ध्यान करते मन मार देते,
वे साधु सामायिक को उरधार लेते ॥४२५॥

वाक्योग रोक जिसने मन मोन धारा,
ओ बीतराग बन आतम को निहारा ।
होती समाधि परमोत्तम ही उसी की,
पूजूं उमे, शरण और नहीं किसी की ॥४२६॥

आरम्भ दम्भ तजके ब्रय गुप्ति पाले,
है पच टन्द्रियजयी समदृष्टि वाले ।
स्थाई सुसामयिक है उनमे दिखाना,
यों केवली परम शासन गीत गाता ॥४२७॥

है साम्यभाव रखते ब्रह्म धावरों मे,
स्थाई मुमामयिक हो उन साधुओं मे ।
ऐसे जिनेश मत है मत भूल रे ! तू,
भाई! अगाध भव वारिधि मध्य मेनु ॥४२८॥

आदीश आदि जिन हैं उन गीत गाना,
लेना सुनाम उनके यश को बढ़ाना ।
ओ पूजना नमन भी करना उन्हीं को,
होता जिनेश स्तव है प्रणमूं उसी को ॥४२९॥

द्रव्यों थनों समयभाव प्रणालियों में,
है दोष जो लग गये, अपने व्रतों में ।
वाक्काय मे मनस से उनको मिटाने,
होती प्रतिक्रमण की विधि है सयाने ॥४३०॥

आलोचना गरहणा करता स्वनिन्दा,
जो साधु दोष करता श्रध का न धन्धा ।
होता प्रतिक्रमण भाव मयी वही है,
तो दोष द्रव्यमय है रुचते नहीं है ॥४३१॥

रागादि भावमल को मन से हटाता,
हो निर्विकल्प मुनि है निज आत्म ध्याता ।
मारी क्रिया वचन की तजता सुहाता,
मच्चा प्रतिक्रमण लाभ वही उठाता ॥४३२॥

स्वाध्याय रूप सर में अवगाह पाना,
सम्पूर्ण दोष मल को पन में धुलाना
मद्ध्यान ही दिपम कल्पय पातकों का,
मच्चा प्रतिक्रमण है घर मद्गुणों का ॥४३३॥

है देह नेह तज के जिन गीत गाते ।
साधु प्रतिक्रमण है करते सुहाते ।
कायोतसर्ग उनका वह है कहाता,
संमार में सहज शाश्वत शातिदाता ॥४३४॥

घोरोपसर्ग यदि हो असुरों सुरों में,
या मानवों मृगगणों मरुतादिकों से ।
कायोतमर्गरत साधु सुधी तथापि,
निस्पन्द शैल, लसते समता-सुधा पी ॥४३५॥

हो निर्विकल्प तज जल्प-विकल्प सारे,
साधु अनागत शुभाशुभ भाव टारे
शुद्धात्म ध्यान सर में डुबकी लगाने,
वे प्रत्यरूप्यान गुण धारक हैं कहाते ॥४३६॥

जो आतमा न तबता निज भाव को है,
स्वीकारता न परकीय विभाव को है।
दृष्टा बना निखिल का परिपूर्ण जाता,
“मैं ही रहा वह” सुधी इस भाँति गाता ॥४३७॥

जो भी दुराचरण है मुझ में दिखाता,
वाक्काय से मनस से उसको मिटाता।
नीराग सामयिक को त्रिविधा कहूँ मैं
तो बार-बार तन धार नहीं मरूँ मैं ॥४३८॥



२६ तप सूत्र (अ) बाह्य तप

जो ब्रह्मचर्यं रहना, जिन ईश पूजा,
सारी कषाय तजना, तजना न ऊर्जा ।
ध्यानार्थं अन्नं तजना 'तप' ये कहते,
प्रायः सदा भविक लोग इन्हें निभाते ॥४३९॥

है मूल में द्विविध रे ! तप मुक्तिदाता,
जो अन्तरंग बहिरंग तथा सुहाता ।
हैं अन्तरंग तप के छह भेद होते
हैं भेद बाह्य तप के उतने ही होते ॥४४०॥

"ऊनोदरी" "अनशना" नित पाल रे ! तू
"भिक्षा किया" रसविमोचन मोक्ष हेतु ।
"संलीनता" दुःख निवारक कायकलेश,
ये बाह्य के छह हुए कहते जिनेश ॥४४१॥

जो कर्म नाश करने समयानुसार,
है त्यागता अशन को, तन को संवार ।
साधू वही अनशना तप साधता है,
होती सुशोभित तभी जग साधुता है ॥४४२॥

आहार अल्प करते श्रुत-बोध पाने,
वे तापसी समय में कहलाय शाने ।
भाई बिना श्रुत उपोषण प्राण खोना ।
आत्मावबोध उससे न कदापि होना ॥४४३॥

ना इन्द्रियो शिथिल हों मन हो न पापी,
ना रोगकानुभव काय करे कदापि,
होती वही अनशना, जिससे मिली हो
आरोग्यपूर्ण नव चेतनता सिली हो ॥४४४॥

उत्साह-चाह-विधि-राह पदानुसार,
 आरोग्य-काल-निज देह बलानुसार ।
 ऐसा करें अशना ऋषि साधु सारे,
 शुद्धात्म को नित निरंतर वे निहारें ॥४४५॥

लेते हुए अशन को उपवास साधें ।
 जो साधु इन्द्रियजयी निजको अराधें ।
 हों इन्द्रियाँ शमित तो उपवास होता,
 घोता कुकर्म मल को, सुख को सजोता ॥४४६॥

मासोपवास करते लघु भी यमी में,
 ना हो विशुद्धि उतनी, जितनी सुधी में ।
 आहार नित्य करते फिर भी तपस्वी,
 होते विशुद्ध उर में, श्रूत में यशस्वी ॥४४७॥

जो एक-एक कर ग्रास घटा घटाना,
 औ भूख से अशन को कम न्यून पाना
 ऊनोदरी तप यही व्यवहार में है,
 ऐसा कहें गुरु, सुदूर बिकार में है ॥४४८॥

दाता खड़े कलश ले हँसते मिले तो ।
 लेके तभी अशन प्राञ्जण में मिले तो ।
 इत्यादि नेम मूनि ने अशनाथं जाते,
 भिक्षा क्रिया यह रही गुरु यों बनाते ॥४४९॥

स्वादिष्ट मिष्ट अनि छट गरिष्ट खाना—
 धी दूध आदि रस हैं इनको न खाना ।
 माना गया तप वही “रस त्याग” नामा
 धारू उम, वर सकू वर मुक्ति रामा ॥४५०॥

एकांन्त में, विजन कानन मध्य जाना,
श्रद्धासमेत शयनासन को लगाना, ।
होगा वही तप सुधारस पेय प्याला,
प्यारा “विविक्त शयनासन” नाम वाला ॥४५१॥

वीरासनादिक लगा, गिरि गव्हरों में,
नाना प्रकार तपना वन कन्दरों में ।
है कायक्लेश तप, तापस तापतापी
पुण्यात्म हो धर उसे तज पाप पापी ॥४५२॥

जो तत्व बोध सुखपूर्वक हाथ आता ।
आने हि दुःख झट से वह भाग जाता ।
वे कायक्लेश समवेत अतः सुयोगी,
तत्त्वानुचितन करें समुपोपयोगी ॥४५३॥

जाना किया जब इलाज कुरोग का है,
ना दुःख हेतु सुख हेतुन रुग्ण का है ।
भाई इलाज करने पर रुग्ण को ही,
हो जाय दुःख, सुख भी सुन भव्य! मोही ! ॥४५४॥

त्यों मोहनाश सविपाकतया यदा हो,
ना दुःख हेतु सुख हेतु नहीं तदा हो ।
पं मोह के विलय में रत है वसी को,
होता कभी दुःख कभी सुख भी उसी को ॥४५५॥

(आ) आभ्यन्तर तप

“प्रायश्चिता” “विनय” औ ऋषि साधु सेवा,
“स्वाध्याय” ध्यान धरते वरबोध मेवा
व्युत्सर्ग, स्वर्ग अपवर्ग महर्ष-दाता
हैं अन्तरंग तप ये छह मोक्ष धाता ॥४५६॥

जो भाव है समितियों व्रत संयमों का,
प्रायश्चिता वह सही दस इन्द्रियों का ।
ध्याऊँ उसे विनय से उर में बिठाता,
होऊँ अतीत विधि से विधि सो विधाता ॥४५७॥

कापायिकी विकृतियाँ मन में न लाना,
आ जाय तो जब कभी उनको हटाना ।
गाना स्वकीय गुणगीत सदा सुहाती,
प्रायश्चिता वह सनिश्चय नाम पाती ॥४५८॥

वर्षों युगों भवभवों समुपार्जिनों का
होता विनाश तप से भववन्धनों का ।
प्रायश्चिता इसलिए “तप” ही रहा है
त्रैलोक्य पूज्य प्रभु ने जग को कहा है ॥४५९॥

आलोचना अरु प्रतिक्रमणोभया है,
व्युत्सर्ग, छेद, तप, मूल, विवेकता है ।
श्रद्धान और परिहार प्रमोदकारी,
प्रायश्चिता दशविधा इस भाँति प्यारी ॥४६०॥

विक्षिप्त चित्तवश आगत दोषकों की,
हेयों अयोग्य अनभोग कृतादिकों की ।
आलोचना निकट जा गुह के करो रे ।
भाई, नहीं कुटिलता उर में धरो रे ! ॥४६१॥

मा को यथा तनुज, कार्य अकार्य को भी,
है सत्य, सत्य कहता, उर पाप जो भी,
मायाभिमान तज, साधु तथा अधों की—
गाथा कहें, स्वगुरु को, दुखदायकों की ॥४६२॥

हैं शाल्य शूल चुभते जब पाद में जो,
दुर्वेदनानुभव पूरण अङ्ग में हो ।
ज्यों ही निकाल उनको हम फेंक देते,
त्यों हो सुशीघ्र सुखसिचित स्वास लेते ॥४६३॥

जो दोष को प्रकट ना करता छुपाता,
मायाभिभूत यति भी अति दुःख पाता ।
दोषाभिभूत मन को गुरु को दिखाओ
निःशाल्य हो विमल हो सुख शांति पाओ ॥४६४॥

आत्मीय सर्व परिणाम विराम पावें,
वे साम्य के सदन में सहसा सुहावें ।
हूँ लखो लखो बहुत भीतर चेतना में
आलोचना बस यही जिन देशना में ॥४६५॥

प्रत्यक्ष-सम्भुख सुवी गुरु सन्त आते
होना खड़, कर जुड़े शिर को झुकाते ।
दे आसनादि वरना गुरु भवित सेवा,
माना गया विनय का तप ओ सदैवा ॥४६६॥

चारित्र, ज्ञान, तप, दर्शन, औपचारी,
ये पांच हैं विनय भेद, प्रमोदकारी ।
धारो इन्हें विमल निर्मल जीव होगा,
दुखावसान, सुख आगम शीघ्र होगा ॥४६७॥

है एक का वह समादर सर्वं का है,
तो एक का यह अनादर विश्व का है।
हो धात मूल पर तो द्रुम सूखता है,
दो मूल में सलिल, पूरण फूलता है ॥४६८॥

है मूल ही विनय आर्हत शासनों का,
हो संयमी विनय से घर सद्गुणों का ।
वे धर्म कर्म तप भी उनके वृथा हैं,
जो दूर हैं विनय से सहते व्यथा है ॥४६९॥

उद्धार का विनय द्वार उद्धार भाता,
होता यही सुतप संयम-बोध-धाता ।
आचार्य संघभर की इससे सदा हो,
आराधना, विनय से सुख सम्पदा हो ॥४७०॥

विद्या मिली विनय से इस लोक में भी,
देती सही सुख वहां पर लोक में भी ।
विद्या न पै विनय-शून्य सुखी बनाती,
शाली, विना जल कभी फल-फूल लाती? ॥४७१॥

अल्पज्ञ किन्तु विनयी मुनि मुक्ति पाता,
दुष्टाष्ट कर्म दल को पल में मिटाता ।
भाई अतः विनय को तज ना कदापि
सच्ची मुधा समझ के उसको मदा पी ॥४७२॥

जो अन्न पान शयनासन आदिकों को,
देना यथा समय सज्जन साधुओं को ।
कारण्य द्योतक यही भवताप हारी,
सेवामयी सुतप है शिवसीर्घ्यकारी ॥४७३॥

साधू बिहार करते करते थके हों,
वार्षक्य की ग्रवधि पे बस आ रुके हों ।
खानादि से व्यथित हों नृप से पिटायें,
दुर्भिक्षरोगवश पीड़ित हों सताये ।
रक्षा संभाल करना उनकी सदैवा,
जाता कहा “सुतप” तापस साधु सेवा ॥४७४॥

सद्वाचना प्रथम है फिर पूछना है,
है आनुप्रेक्ष क्रमणः परिवर्तना है ।
धर्मोपदेश मुखदायक है मुधा है,
स्वाध्याय रूप तप पावन पंचधा है ॥४७५॥

आमृलतः बल लगा विधि को मिटाने,
पै घ्याति लाभ यश पूजन को न पाने ।
सिद्धान्त का मनन जो करता-कराता,
पा तत्व बोध बनता सुखधाम, धाता ॥४७६॥

होते नितान्त समलंकृत गुणियों से,
तल्लीन भी विनय में मृदु बल्लियों से ।
एकाग्र मानस जितेंद्रिय अक्ष-जेता,
स्वाध्याय के रसिक वे ऋषि साधु नेता ॥४७७॥

सद्ध्यान सिद्धि जिन आगम ज्ञान से हो,
तो निर्जंरा करम की निजध्यान से हो ।
हो मोक्ष लाभ सहसा विधि निर्जंरा से
स्वाध्याय में इसलिए रम जा जरा से ॥४७८॥

स्वाध्याय सा न तप है, नहि था न होगा,
यों मानना अनुपयुक्त कभी न होगा ।
सारे इसे इसलिए ऋषि सन्त त्यागी,
धारें, बनें विगतमोह, बनें विरागी ॥४७९॥

जा बैठना शयन भी करना तथापि,
चेष्टा न व्यर्थ तन की करना कदापि ।
व्युत्सर्गरूप तप है, विधि को तपाता,
पीताम हेम सम आत्म को बनाता ॥४८०॥

कायोतसर्ग तप मे मिटती व्यथायें,
हो ध्यान चिन्त स्थिर द्वादश भावनायें ।
काया निर्गोग बनती मति जाड्य जाती,
मंत्राम सौम्य सहने उर शक्ति आती ॥४८१॥

लोकेशनार्थ तपते उन साधुओं का,
ना शुद्ध हो तप महाकुलधारियों का ।
अमा अनः न अपने तप की करो रे !
जावे न अन्य जन यों तप धार लो रे ॥४८२॥

स्वामी समाहत विवोध मुवात मे है,
उदीप्त भी तपहुताशन शील मे है ।
बैमा कुकमं वन को पल में जलाता,
जैमा वनानल धने वन को जलाता ॥४८३॥

२६ ध्यान सूत्र

ज्यों मूल, मुरुः द्रुम में जग में कहाता,
या देह में प्रमुख मस्तक है मुहाना।
त्यों ध्यान ही प्रमुख है मुनि के गुणों में,
धर्मों तथा सकल आचरणों व्रतों में ॥४८४॥

सद्ध्यान है मनस की स्थिरता सुधा है,
तो चित्त की चपलता त्रिवली त्रिधा है।
चिन्ताज्ञुपेक्ष क्रमशः वह भावना है,
तीनों मिटें वस यही मम कामना है ॥४८५॥

ज्यों नीर में लवण है गल लीन होता,
योगी समाधि सर में लवलीन होता।
अध्यात्मिका धघकती फलरूप ज्वाला,
है नाशती द्रुत शुभाशुभ कर्म शाला ॥४८६॥

ब्यापार योगत्रय का जिसने हटाया,
समोह राग रति रोषन को नशाया।
ध्यानाग्नि दीप्त उसमें उठती दिखाती,
है राख राख करती विधि को मिटाती ॥४८७॥

बैठे करे स्वमुख उत्तर पूर्व में वा,
ध्याता सुधी, स्थित सुखासन से सदैवा।
आदर्श-सा विमल चारित काय वाला,
पीता समाधि-रस पूरित षेय प्याला ॥४८८॥

पत्थंक आसन लगाकर आत्म ध्याता,
नासाश्र को विषय लोचन का बनाता।
ब्यापार योग त्रय का कर बन्द ज्ञानी,
उच्छ्वास श्वास गति मंद करें अमानी ॥४८९॥

गर्हा दुराचरण की अपनी करो रे !
माँगो क्षमा जगत से मन मार लो रे !
हो अप्रमत्त तब लौं निज आत्म ध्याओ,
प्राचोन कर्म जब लौं तुम ना हटाओ ॥४९०॥

निस्पंद योग जिसके, मन मोद पाता—
सदध्यान लीन, नहि बाहर भूल जाता ।
ध्यानार्थ ग्राम पुर हो वन काननी हो,
दोनों समान उसको, समता धनी हो ॥४९१॥

पीना समाधि-रस को यदि चाहते हो,
जीना युगों युगयुगों तक चाहते हो ।
अच्छे बुरे विषय एंद्रिक है तथापि,
ना रोप तोप करना, उनमें कदापि ॥४९२॥

निसंग है निडर नित्य निरीह त्यागी,
वैराग्य भाव परिपूर्ण है विगगी ।
वैचित्र्य भी विदित है भव का जिन्हों को,
वे ध्यान लीन रहते, भजते गुणों को ॥४९३॥

आत्मा अनन्त दृग, केवल वांध धारी,
आकार से पुरुष शश्वत सौम्यकारी ।
योगी नितान्त उसका उर ध्यान लाता ।
निर्द्वन्द्व पूर्ण बनता अघ को हटाता ॥४९४॥

आत्मा तना तन, निकेतन में अपापी,
योगी उसे पृथक से लखते तथापि ।
सयोग जन्य तन आदि उपाधियों को,
वे त्याग, आप अपने गुणते गुणों को ॥४९५॥

मेरे नहीं “पर” यहाँ पर का न मैं हूँ,
हूँ एक हूँ विमल केवल ज्ञान मैं हूँ।
यों ध्यान में मतत चित्त जो करेगा,
ध्याना स्व का बन, मुमुक्षित रमा बरेगा ॥४९६॥

जो ध्यान में न निजवेदन को करेगा,
योगी निजी-परम-नत्य नहीं गहेगा ।
मांभाग्यहीन नर क्या निधि पा सकेगा ?
दुर्भाग्य में दुश्मित हो नित रो सकेगा ॥४९७॥

पिण्डस्थ ग्रादिम पदस्थन स्वप हीन,
है ध्यान तीन द्वन्द्वे नुस हो विलीन ।
द्वद्यस्थना, मुजिनता, शिवमिद्धिना ये,
तीनों ही नन् विषय हैं ऋमयः मुहाये ॥४९८॥

खड़गामनादिक लगा युग वीर स्वामी,
थे ध्यान में निरन अतिप तीर्थ नामी ।
वे श्वभ्र स्वर्गगत दृश्य निहारते थे,
सकल्प के विन समाधि मुधारते थे ॥४९९॥

भोगों, अनागत गतों व तथागतों की,
कांक्षा जिन्हें न स्मृति, क्यों फिर आगतों की?
तेमे महर्षि जन कार्मिक काय को ही,
क्षीणातिक्षीण करते बनते विमोही ॥५००॥

चिता करो न कुछ भी मग से न डोलो,
चेष्टा करो न तन से मुख से न बोलो ।
यों योग में गिरि बनो, शुभ ध्यान होता—
आत्मा निजात्मरन ही सुख बीज बोता ॥५०१॥

है ध्यान में रम रहा सुख पा रहा है,
युद्धात्म ही वस जिसे अति भा रहा है।
पाके कषाय न कदापि दुखी बनेगा,
ईर्पा विपाद मद शोक नहीं करेगा ॥५०२॥

वे धीर साधु उपसर्ग परीपहों से,
होते न भीरु चिगते अपने पदों से।
मायामयी अमर सम्पद वैभवों में,
ना मुग्ध नुब्ध बनते निज कृद्धियों में ॥५०३॥

वर्षों पड़ा बहुत-सा तृण ढेर चारा,
ज्यों अग्नि मे झट जने बिन देर मारा।
न्यों शीघ्र ही भव भवाजित कर्म कूड़ा,
ध्यानाग्नि मे जल मिटे मुन भव्य मृटा ॥५०४॥



३०. अनुप्रेक्षा सूत्र

स्वाधीन चित्त कर तू शुभ ध्यान द्वारा,
कर्त्तव्य आदिम यही मुनि भव्य प्यारा ।
सद्ध्यान संतुलित होकर भी सदा ये,
भर भाव से सुखद द्वादश भावनाये ॥५०५॥

संसार, लोक, नृष आत्मव, निर्जरा है,
अन्यत्व औ अशुचि, अधुव संवरा है,
एकत्व औ अशरण अवबोधना ये,
चिते सुषी सतत द्वादश भावनाये ॥५०६॥

है जन्म से मरण भी वह जन्म लेता,
वार्षक्य भी सतत योवन साथ देता ।
लक्ष्मी अतीव चपला बिजली बनी है,
संसार ही तरल है स्थिर ही नहीं है ॥५०७॥

हे ! भव्य मोहघट को झट पूर्ण फोड़ो,
सद्यःक्षयी विषय को विष मान छोड़ो ।
ओ चित्त को सहज निर्विषयी बनाओ,
ओचित्य !! पूर्ण परमोत्तम सौरुद्य पाओ ॥५०८॥

अल्पज्ञ ही परिजनों धन वैभवों को,
है मानता “शरण” पाशव गोधनों को ।
ये है मदीय यह मैं उनका बताता,
पै वस्तुतः शरण वे नहि प्राण त्राता ॥५०९॥

मैं संग शल्य त्रय को त्रययोग द्वारा,
हूँ हेय जान तजता जड़ के विकारा ।
मेरे लिए शरण त्राण प्रमाण प्यारी,
हैं गुप्तियाँ समितियाँ भव दुःख हारी ॥५१०॥

लावण्य का मद युबा करते सभी हैं,
पै मृत्यु पा उपजते कृमि हो वहाँ है।
संसार को इसलिए बुध सन्त त्यागी,
घिक्कारते न रमते उसमें विरागी ॥५११॥

ऐसा न लोक भर में थल ही रहा हो,
मैंने न जन्म मृत दुःख जहाँ सहा हो।
तू बार बार तन धार मरा यहाँ है,
तू ही बता स्मृति तुझे उसकी कहाँ है ॥५१२॥

दुलंघ्य है भवपयोधि अहो ! अपरा,
अक्षुण्ण जन्म जल पूरित पूर्ण खारा।
मारी जरा मगरमच्छ यहाँ सताते,
है दुःख पाक, इसका, गुरु है बताते ॥५१३॥

जो साधु रत्नत्रय मंडित हो मुहाता,
संसार में परम तीर्थ वही कहाता।
संसार पार करता, लख क्यों कि मौका,
हो रुढ़, रत्नत्रय रूप अनूप नौका ॥५१४॥

हे ! मित्र आप अपने विधि के फलों को,
हैं भोगते मरुल जीव शुभाशुभों को
तो कौन हो स्वजन ? कौन निरा पराया ?
तू ही बता समझ में मुझको न आया ॥५१५॥

पूरा भरा दृग विवोधमयी मुधा से,
मैं एक शाश्वत मुधाकर हूँ सदा मे।
संयोगजन्य सब शेष विभाव मेरे,
रागादि भाव जितने मुझमे निरे ने ॥५१६॥

संयोग भाव वश ही वहु दृःख पाया,
हूँ कर्म के तपन तप्त, गया सताया।
त्यागूँ उसे यतन मे अब चाव से मैं,
विश्राम लूँ मघन चेतन छाव में मैं॥५१७॥

तूने भवाम्बुनिधि मजित आतमा की,
चिता न की न अब लौं उम पे दया की।
पै बार बार करता मृत माथियों की,
चिता दिवंगत हुए उन बन्धुओं की॥५१८॥

मैं अन्य हूँ तन निरा, तन मे न नाता,
ये मर्व भिन्न मुझमे सुत, तात, माता।
यों जान मान बुध गंडित माधु मारे,
धारें न राग इनमें, निज को निहारें॥५१९॥

शुद्धात्म वेदन तया सम दृष्टि वाला,
है वस्तुतः निरखता तन को निराला।
अन्यत्व रूप उसकी वह भावना है,
भाऊँ उसे जब मुझे ब्रत पालना है॥५२०॥

निष्पन्न है जड़मयी पल हड्डियों मे,
पूरा भरा रधिर मूत्र-मलादिकों मे।
दुर्गन्ध द्रव्य भरते नव ढार ढारा,
ऐसा शरीर किर भी सुख दे तुम्हारा?॥५२१॥

जो मोह-जन्य जड़ भाव विभाव नारे,
हैं त्याज्य यों समझ माधु उन्हे विमारें।
तल्लीन हो प्रशम में तज वासना को,
भावें सही परम आत्मव भावना को॥५२२॥

वे गुप्ति औ समिति पालक अक्ष जेता,
औ अप्रमत्त परमात्म तत्त्ववेत्ता ।
हैं कर्म के विविध आळव रोध पाते,
है भावना परम संवर की निभाते ॥५२३॥

है लोक का यह वितान असार सारा,
संसार तीव्र गति से गममान न्यारा ।
यों जान मान मुनि हो शुभ ध्यान धारो,
लोकाग्र में स्थित शिवालय को निहारो ॥५२४॥

स्वामी ! जरा मरण-वारिधि में अनेकों,
जो डूबते बह रहे उन प्राणियों को ।
सद्धर्म ही शरण है गति, श्रेय द्वीप,
पूजूं उसे शिव लसे सहसा समीप ॥५२५॥

तो भी रहा मुलभ ही वर देह पाना,
पै धर्म का श्रवण दुर्लभ है पचाना ।
हो जाय प्राप्त जिससे कि क्षमा अहिंसा,
ये भिन्न-भिन्न बन जाय शरीर हमा ॥५२६॥

सद्धर्म का मुलभ है सुनना मुनाना,
अद्वान पै कठिन है उस पै जमाना ।
सन्मार्ग का श्रवण भी करते तथापि,
होते कई स्वलित हैं मनि मङ्ग पापी ॥५२७॥

अद्वान औ श्रवण भी जिन धर्म का हो,
पै संयमाचरण तो अति दुर्लभा हो ।
लेते सुधी रुचि सुसंयम में कई हैं,
पाते तथापि उसका उसको सहसा नहीं हैं ॥५२८॥

सद्भावना वश निजातम् शोभती त्यों,
निःछिद्र नाव जल में वह शोभती ज्यों।
नीका समान भव पार उतारती है,
रे ! भावना अमित दुःख विनाशती है ॥५२९॥

सच्चा प्रतिक्रमण, द्वादश भावनार्थे,
आलोचना शुचि समाधि निजी कथार्थे ।
भावो इन्हें, तुम निरन्तर पाप त्यागो,
शीघ्रातिशीघ्र जिससे निज धाम भागो ॥५३०॥



३१. लेश्या सूत्र

ये पीत, पथ शशि शुक्ल शुलेश्यकायें,
हैं धर्म व्यान रत आत्म की दशायें।
ओ उत्तरोत्तर सुनिर्मल भी रही हैं,
मन्दादि भेद इनके मिलते कई हैं॥५३१॥

होती कषाय वश योग प्रवृत्ति लेश्या,
है लूटती निधि सभी जिस भाँति वेश्या।
जो कर्मबन्ध जग चार प्रकार का है,
हे मित्र ! कार्य वह योग-कषाय का है॥५३२॥

हैं कृष्ण नीलम कपोत कुलेश्यकायें,
हैं पीत पथ सित तीन सुलेश्यकायें,
लेश्या कही समय में छह भेद बाली
ज्यों ही मिटी समझ लो मिटती भवाली॥५३३॥

मानी गई अशुभ आदिम लेश्यकायें,
तीनों अधर्म मय हैं दुख आपदायें।
आत्मा इन्हों वश दुखी बनता वृथा है
पापी बना, कुगति जा सहता व्यथा है॥५३४॥

हैं तीन धर्ममय अंतिम लेश्यकायें,
मानी गई शुभ सुधा सुख सम्पदायें।
ये जीव को मुगति में सब भेजती हैं,
वे धारते नित इन्हें जग में व्रतो हैं॥५३५॥

है तीव्र, तीवतर, तीव्रतमा कुलेश्या,
है मन्द, मन्दतर, मन्दतमा सुलेश्या।
भाई ! तथेव छह थान विनाग वृद्धि,
प्रत्येक में बरतती इनमें, मुवृद्धि!॥५३६॥

भूले हुए पथिक थे पथ को मुघा से,
थे आर्त पीड़ित छहों वन में क्षुधा से।
देखा रसाल नह फूल-फलों लदा था,
मानो उन्हें कि अशनार्थ बुला रहा था ॥

आमृत, मूर्धन्य, टहनी भट काट डालें,
ओ तोड़ तोड़ फल-फूल रसाल खा लें।
यों नीन दीन क्रमशः धरते कुलेश्या,
है मोचने कह रहे कर मंकलेशा ॥

है एक गुच्छ-भर को डक पक्का पाता,
तोड़े बिना पतित को इक मात्र खाता।
यों धोप नीन क्रमशः धरने सुनेश्या,
नेश्या उदाहरण ये कहने जिनेशा ॥५३७-५३८॥

ये कूरता अनिदुराप्रह दुष्टतायें।
मद्यर्थ की विकृता अदया दयायें।
वंशज ओ नलहभाव विभाव सारे,
है क्रष्ण के दुन्दद लक्षण, साधु टारे ॥५३९॥

अज्ञानता विषय की अतिगृद्धताये,
सद्वुद्धि को विकृता मतिमन्दतायें
मंकप में समझ, लक्षण नील के हैं,
ऐसे कहें, श्रमण आत्म शील के हैं ॥५४०॥

अत्यन्त शोक करना भयभीत होना,
कन्दव्यमृढ़ बनना भट रुष्ट होना।
दोषी व नित्य पर को कहना बताना,
कापोत भाव सब ये इनको हटाना ॥५४१॥

आदेय, हेय अहिताहित-बोध होना
संसारि प्राणि भर में समभाव होना ।
दानी तथा सदय हो पर दुःख खोना,
ये पीत लक्षण इन्हें तुम धार लो ना ॥५४२॥

हो त्याग भाव, नयता व्यवहार में हो ।
औ भद्रता, सरन्तता, उर कार्य में हो,
कर्त्तव्य मान करना गुरुभक्ति सेवा,
ये पश्च लक्षण धर्मा धर लो सदैव ॥५४३॥

भोगाभिनाप मन म न कदापि लाना,
ओ देह-नेह रति-रोपन को हटाना ।
ना पक्षपात करना समता सभी में,
ये शुक्ल लक्षण मिन्ने मुनि में सुधो में ॥५४४॥

आ जाय शुद्धि परिणाम मन में जभी से
नेत्या विशुद्ध बनती, सहमा तभी मे ।
कापाय मन्द पड़ जाय अशानिदायी,
हो जाय आत्म परिणाम विशुद्ध भाई ॥५४५॥

३२. आत्म-विकास सूत्र

संमोह योग वश आत्म में अनेकों,
होते विभिन्न परिणाम विकार देखो !
सर्वज्ञ-देव “गुण थान” उन्हें बताया,
आलोक मे सकल को जब देख पाया ॥५४६॥

भिष्यात्व आदिम रहा गुण थान भाई,
सासादना वह द्वितीय अशान्ति दाई ।
है मिश्र है अविरती समदृष्टि प्यारी,
है एक देश विरती धरते अगारी ।

होती प्रमत्त विरती गिर साधु जाता,
हो अप्रमत्त विरती निज पास आता ।
स्वामी अपूर्व करणा दुख को मिटाती,
है अनिवृत्तिकरणा सुख को दिलाती ॥

है सांपराय अति सूक्ष्म लोभवाला,
है शांत मोह गत मोह निरा उजाला ।
हैं केवली जिन सयोगि, अयोगि न्यारे,
इत्थं चतुर्दश सुनो ! गुण थान सारे ॥५४७-५४८॥

तत्वार्थ में न करना शुचिरूप श्रद्धा,
मिष्यात्व है वह कहें जिन शुद्ध बुद्धा ।
मिष्यात्व भी त्रिविध संशय नामवाला,
द्वूजा गृहीत, अगृहीत तृतीय हाला ॥५४९॥

सम्यक्त्वरूपगिरि से गिर तो गई है,
मिष्यात्व की अवनि पे नहि आ गई है ।
सासादना यह रही निचली दशा है,
मिष्यात्व की अभिसुखी दुःख की निशा है ॥५५०॥

जैसा दही-गुड़ मिलाकर स्वाद लोगे,
तो भिन्न-भिन्न तुम स्वाद न ले सकोगे ।
वैसे हि मिश्र गुणथानन का प्रभाव,
मिथ्यापना समपनाश्रित मिश्रभाव ॥५५१॥

छोड़ी अभी नहिं चराचर जीव हिंसा,
ना इंद्रियां दमित की तज भाब-हिंसा ।
श्रद्धा परन्तु जिसने जिन में जमाई,
होता वही अविरती समदृष्टि भाई ॥५५२॥

छोड़ी नितान्त जिसने असजीवहिंसा,
छोड़ी परन्तु नहिं थावर जीव-हिंसा ।
लेता सदा जिनप पाद पयोज स्वाद,
हो एक देश विरती “अलि” निविवाद ॥५५३॥

धारा महाव्रत सभी जिसने तथापि,
प्रायः प्रसाद करता फिर भी अपापी ।
शान्तादि सर्वगुण धारक संग त्यागी,
होता प्रमत्त विरती कुछ दोष भागी ॥५५४॥

शीलाभिमंडित, व्रती गुण धार ज्ञानी,
त्यागा प्रसाद जिसने बन आत्म-ध्यानी ।
पै मोह को नहिं दवा न खपा रहा है,
है अप्रमत्त विरती, सुख पा रहा है ॥५५५॥

जो भिन्न-भिन्न क्षण में चढ़ आठवें में,
योगी अपूर्व परिणाम करें मन्त्रे में ।
ऐसे अपूर्व परिणाम न पूर्व में हो,
वे ही अपूर्व करणा गुणथान में हो ॥५५६॥

जो भी अपूर्व परिणाम सुधार पाते,
वे मोह के शमक, ध्वंसक या कहाते।
ऐसा जिनेंद्र प्रभु ने हमको बताया,
अज्ञान रूप तम को जिसने मिटाया ॥५५७॥

प्रत्येक काल इक ही परिणाम पाने,
वे आनिवृत्ति करणा गुणथान वाले।
ध्यानाग्नि से धधकती विधिकाननी को
हैं राख खाक करते, दुख की जनी को ॥५५८॥

कौमुदि के सदृश सौम्य गुलाब आभा,
शोभायमान जिसके उर राग आभा।
है मूळमराग दशवें गुणथान वाले,
वे बन्द्य, तू विनय से शिर तो नवां ले ॥५५९॥

ज्यों शुद्ध है शरद में सरनीर होता,
या निर्मली फल डला जन क्षीर होता।
त्यों शान्त मोह गूणधारक हो निहाना
हो मोह सत्त्व, पर जीवन तो उजाना ॥५६०॥

सम्मोह हीन जिसका मन ठीक वैसा—
हो स्वच्छ, हो स्फटिक भाजन नीर जैसा।
निर्गन्ध साधु वह क्षीण कषाय नामी,
यों वीतराग कहते प्रभु विश्व स्वामी ॥५६१॥

केवल्य बोध रवि जीवन में जगा है,
अज्ञानरूप तम तो फलतः भगा है।
पा लब्धियाँ नव, नवीन वही कहाता,
त्रैलोक्य पूज्य परमात्म या प्रमाता ॥५६२॥

स्वाधीन बोध दृग पाकर केवली हैं।
जीता जभी स्वयम् को जिन हैं बली है।
होता सयोगि जिन योग समेत ध्यानी,
ऐसा कहें अमिट अव्यय आर्पत्राणी ॥५६३॥

है अष्ट कर्म मल को जिनने हटाया,
सम्यकतया सकल आखब रोक पाया।
वे हैं, अयोगि जिन पावन केवली हैं,
हैं जील के सदन औ सुख के धनी हैं ॥५६४॥

आत्मा अतीत गुणथान बना जभी मे,
सानन्द ऊर्ध्व गति है करता तभी मे।
लोकाग्र जा निवसता गुण अष्ट पाना,
पाना न देह भव में नहि लौट आता ॥५६५॥

वे कर्म-मुक्त, नित मिछ मुशान्त जानी,
होते निरंजन न अंजन की निशानी।
सामान्य अष्ट गुण आकर हो लमे हैं,
लोकाग्र में म्थिति गिवालय में बमे हैं । ५६६॥

भाई मुनो तन अचेतन दिव्य नौका,
तो जीव नाविक मचेतन है अनोखा।
मंमार मागर रहा दुःख पूर्ण खाग,
हैं तैरते ऋषि महर्षि जिसे मुचाग ॥५६७॥

है लक्ष्य विन्दु यदि शाश्वत मौस्य पाना,
जाना मना विषय में मन को घुलाना।
दे देह को उचित वेतन तू मयाने !
पाने स्वकीय मुख को विधि को मिटाने ॥५६८॥

क्या धीर, कागुरुष, कायर कथा विचारा,
हो काल का कवल लोक नितान्त सारा ।
है मृत्यु का यह नियोग, नहीं टलेगा,
तो धैर्य धार मरना, शिव जो मिलेगा ॥५६९॥

ओ एक ही मरण है मुनि पण्डितों का,
है आशु नाश करता शतशः भवों का ।
ऐसा अतः मरण हो जिससे तुम्हारा,
जो बार-बार मरना, मर जाय सारा ॥५७०॥

पाण्डित्य पूर्ण मृति, पण्डित साधु पाता,
निर्बन्ध हो अमय हो भय को हटाता ।
तो एक साथ मरणोदधिपूर्ण पीता,
मृत्युंजयी बन तभी चिरकाल जीता ॥५७१॥

वे साधु पाश समझे लघु दोष को भी,
हो दोष ताकि न, चले रख होश को भी ।
सद्धर्म और सधने तन को सँभालें,
हो जीर्ण शीर्ण तन, त्याग स्वगीत गा लें ॥५७२॥

दुर्बार रोग तन में न जरा धिरी हो,
बाधा पवित्र व्रत में नहिं आ परी हो ।
तो देह त्याग न करो, फिर भी करोगे,
साधुत्व त्याग करके, भव में फिरोगे ॥५७३॥



३३· सल्लेखना सूत्र

सल्लेखना सुखद है सुख है सुधा है,
जो अंतरंग बहिरंग तथा द्विधा है।
आद्या, कषाय क्रमशः कृश ही कराना,
है दूसरी बिन व्यथा तन को सुखाना ॥५७४॥

काषायिकी परिणती सहसा हटाते,
आहार अल्प कर लें क्रमशः घटाते,
सल्लेखना व्रत सुधारक रुग्न हों वे,
तो पूर्ण अन्न तज दें, अति अल्प सोवें ॥५७५॥

एकान्त प्रासुक धरा, तृण की चटाई,
सन्यस्त के मसूर संस्तर ये न भाई।
आदर्श तुल्य जिसका मन हो उजाला,
आत्मा हि संस्तर रहा उसका निहाला ॥५७६॥

हाला तथा कुपित नाग कराल काला,
या भूत, यंत्र, विष निर्मित बाण भाला।
होते अनिष्ट उतने न प्रमादियों के,
निम्नोक्त भाव जितने शठ साधुओं के ॥५७७॥

सल्लेखना समय में तजते न माया-
मिथ्या निदान त्रय को मन में जमाया।
वे साषु आशु नहि दुर्लभ बोधि पाते,
पाते अनन्त दुख ही भव को बढ़ाते ॥५७८॥

मायादि शल्य त्रय ही भव वक्ष मूल,
काठें उसे मुनि सुषी अभिमान भूल।
ऐसे मुनीश पद में नतमाथ होऊँ,
पाऊँ पवित्र पद को शिवनाथ होऊँ ॥५७९॥

भोगाभिलाप समवेत कुकृष्णलेश्या,
हो मृत्यु के समय में जिसको जिनेगा ।
मिथ्यात्व कर्दम फँसा उस जीव को ही,
हो बोधि दुर्लभतया, तज मोह मोही ॥५८०॥

प्राणान्त के समय में शुचि शुक्रलेश्या,
जो धारता, तज नितान्त दुरन्त कनेशा ।
सम्यक्त्व में निरत नित्य, निदान त्यागी,
पाता वही सहज बोधि वना विरागी ॥५८१॥

मदबोधि की यदि तुम्हें चिर कामना हो,
ज्ञानादि की सतत सादर माधवना हो ।
अभ्यास रत्नत्रय का करता, उसी को,
आराधना वरण है करती मुधी को ॥५८२॥

ज्यों सीखता प्रथम, राजकुमार नाना-
विद्या कला असिगदादिक को चलाना ।
पठ्चान् वही कुशलता बल योग्य पाता,
तो धीर जीत रिपु को, जय लूट लाता ॥५८३॥

अभ्यास भूरि करता शुभ ध्यान का है,
लेता सदैव यदि माध्यम माध्य का है ।
तो माधु का सहज हो मन गान्त जाता,
प्राणान्त के समय ध्यान नितान्त पाता ॥५८४॥

ध्याओ निजात्म नित ही निज को निहारो,
अन्यत्र, छोड़ निज को, न करो विहारो ।
संबंध मोक्ष पथ मे अविलम्ब जोड़ो,
तो प्राप को नमन हो मम ये करोड़ों ॥५८५॥

साधू करे न मृति जीवन की चिकित्सा,
ना पारलौकिक न लौकिक भोगलिप्सा ।
सल्लेखना समय में बस साम्य धारे,
संसार का अशुभ ही फल क्यों विचारे ॥५८६॥

लेना निजाश्रय सुनिश्चित मोक्ष दाता,
होता पराश्रय दुरन्त अशान्ति-धाता ।
शुद्धात्म में इसलिए रुचि हो नुम्हारी,
देहादि में अरुचि ही शिव सौम्यकारी ॥५८७॥

(द्वितीय खण्ड समाप्त)

दोहा

‘मोक्षमार्ग’ पर नित चलो दुख मिट, सुख मिज जाय ।
परम सुगंधित ज्ञान की मृदुल कली बिल जाय ॥२॥



तत्त्व दर्शन, तृतीय संष्ठ

३४. तत्त्व सूत्र

अल्पज मूढ़ जन ही भजते अविद्या,
होते दुखी, नहि सुखी तजते सुविद्या ।
हो लुप्त गुत भव में बहुवार ताते,
कल्पोन ज्यों उपजते भर में ममाते ॥५८८॥

रागादि भाव भर को अघ पाश मानें,
वित्तादि वैभव महा दुःख खान जानें ।
ओ मत्य तथ्य समझें, जग प्राणियों में,
मैत्री रमें, बुध सदैव चराचरों में ॥५८९॥

जो “शुद्धता” परम “द्रव्यम्बभाव”, स्थाई,
है “पारमार्थ” “अपरापर ध्येय” भाई ।
ओ वस्तु तत्त्व, सुन ये सब शब्द प्यारे,
हैं भिन्न-भिन्न पर आशय एक धारे ॥५९०॥

होते पदार्थ नव जीव अजीव न्यारा,
है पुण्य पाप विधि आस्तव बंध खारा ।
आराध्य हैं सुखद संवर निर्जरा हैं,
आदेय हैं परम मोक्ष यही खरा है ॥५९१॥

है जीव, शाश्वत अश्वादि अनन्त ज्ञाता,
भोक्ता तथा स्वयम की विधि के विधाता ।
स्वामी सचेतन तभी तन से निराला,
प्यारा अरूप उपयोगमयी निहाला ॥५९२॥

भाई कभी अहित से डरता नहीं है,
उद्योग भी स्वहित का करता नहीं है ।
जो बोध, दुःख सुख का रखता नहीं है,
है मानते मुनि, अजीव उसे सही है ॥५९३॥

आकाश पुद्गल व धर्म, अधर्म, काल,
ये हैं अजीव सुन तू अथि भव्य बाल !
रूपादि चार गुण पुदगल में दिखाते,
है मूर्त पुद्गल, न शेष, अमृत भाते ॥५९४॥

आत्मा अमूर्त नहि इंद्रिय गम्य होता,
होता तथापि नित, नूतन छंग ढोता ।
है आत्मा की कलुपता विधि वन्ध हेतु,
संसार हेतु विधि वन्धन जान रे ! तू ॥५९५॥

जो राग से सहित है वसु कर्म पाता,
होता विराग भवमुक्त अनन्त ज्ञाता ।
भंसारि जीव भर की विधि वन्ध गाथा,
संक्षेप में समझ क्यों रति गीत गाता ॥५९६॥

मोक्षाभिलाप यदि है तज राग रागी,
नीराग भाव गह ले, बन बीतरागी ।
ऐमा हि भव्य जन शाश्वत सौम्य पाने,
शीघ्रातिशीघ्र भव वारिधि तंर जाते ॥५९७॥

है पाप-पुण्य विधि दो विधि वंध हेतु,
रे जान निश्चित शुभाशुभ भाव को तू ।
हैं धारते अश्व नीत्र कपाय वाले,
शोभे मुधार शुभ मन्द कपायवाले ॥५९८॥

धारे क्षमा खलजनों कटुभापियों में,
लेवे नितान्त गुण शोध सभी जनों में ।
बोले सदव पिय बोल उन्ही जनों के
ये हैं उदाहरण मन्दकपायियों के ॥५९९॥

जो वैर-भाव रखना चिर, साधुओं में,
प्रादोष को निरखना गुणधारियों में ।
शंसा स्वकीय करना उन पापियों के,
ये चिन्ह हैं परम तीव्र कषायियों के ॥६००॥

जो राग रोष वश मत्त बना भिखारी,
आधीन इन्द्रिय निकायन का विकारी ।
है अष्ट कर्म करता त्रय योग द्वारा,
कैसे खुले फिर उसे वर मुक्ति द्वारा ॥६०१॥

हिंसादि पंच विधि आत्मव द्वार द्वारा,
होता सदैव विधि आत्मव है प्रपारा ।
आत्मा भवाम्बु निधि में तब डूब जाती,
नौका सछिद्र, जल में कब तैर पाती ? ॥६०२॥

हो वात से सरसि शीघ्र तरंगिता ज्यों,
वाक्काय से मनस से यह आत्मा त्यों ।
त्रैलोक्य पूज्य जिन “योग” उसे बताते
वे योग निघहतया जग जान जाते ॥६०३॥

ज्यों-ज्यों त्रियोग रुकते-रुकते चलेंगे,
त्यों-त्यों नितान्त विधि आत्मव भी रुकेंगे ।
संपूर्ण योग रुक जाय न कर्म आता
क्या पोत में विवर के बिन नीर जाता ? ॥६०४॥

मिथ्यात्व और अविरती कुक्षाय योग,
ये चार आत्मव इन्ही वश दुःखयोग ।
सम्यक्त्व संयम, विराग, त्रियोगरोध
ये चार संवर, जगे इनसे स्वबोध ॥६०५॥

हो बन्द, पोतगत छेद सभी सही है !!!
पानी प्रवेश करता उसमें नहीं है।
मिथ्यात्व आदि मिटने पर शोधता से
हो कर्म संवर निजातम् साम्यता से॥६०६॥

रोके नितान्त जिनने विधि द्वार सारे,
होते जिन्हें निज समागम जीव प्यारे।
वे संयमी परम संवर को निभाते,
हैं पापरूप विधि-बन्धन को न पाते॥६०७॥

मिथ्यात्वरूप विधि द्वार खुले न भाई,
तू शीघ्र से दृग कपाट लगा भलाई।
हिसादि द्वार, व्रतरूप कपाट ढारा,
हे ! भव्य बन्द कर दे, सुख पा अपारा॥६०८॥

होता जलास्व जहाँ तुम बांध डालो,
आये हुये सलिल बाद निकाल डालो।
तालाब में जल लबालब हो भले ही,
ओ सूखता सहज से पल में टले ही॥६०९॥

हो संयमी परम आत्म शोधता है,
संपूर्ण पापविधि आस्व रोकता है,
निर्भ्रान्ति कोटि भव संचित कर्म सारे,
होते विनष्ट, तप से क्षण में विचारे॥६१०॥

पाये बिना परम संवर को तपस्वी,
पाता न मोक्ष तप से कहते मनस्वी।
आता रहा सलिल बाहर से सदा ओ,
क्या सूखता सर कभी ? तुम ही बताओ॥६११॥

है कर्म नष्ट करता जितना वर्नों में,
जा अङ्ग धार तप, कोटि भवों भवों में।
ज्ञानी निमेष भर में त्रय गुप्ति द्वारा
है कर्म नष्ट करता उतना मुचारा ॥६१२॥

होता विनष्ट जब मोह अशांतिदाई,
तो शेष कर्म सहसा नश जाय भाई।
मेनाधिनायक भला रण में मरा हो
सेना कभी वच सके? न वचे जरा ओ ॥६१३॥

लोकान्त लौ गमन है करता मुहाता,
है सिद्ध कर्ममलमुक्त, निजात्म धाता,
सर्वज्ञ हो लस रहा नित सर्वदर्जी
होता अतींद्रिय अनन्त प्रमोद म्पर्जी ॥६१४॥

संप्राप्त जो सुख, सुरों अमुरों नरों को,
ओ भोग भूमिजज्ञों अहमिद्रिकों को।
ओ मात्र विन्दु, जब सिद्धनका मुसिधु,
खद्योत ज्योत इक है, इक पूर्ण इन्दु ॥६१५॥

संकल्प तर्क न जहाँ मन ही मरा है
ना ओज तेज, मल की न परंपरा है।
संमोह का क्षय हुआ फिर खेद कैसे ?
ना शब्द गम्य वह मोक्ष दिखाय कैसे ॥६१६॥

बाधा न जीवित जहाँ कुछ भी न पीड़ा,
आती न गन्ध सुख की दुख से न कीड़ा।
ना जन्म है मरण है जिसमें दिखाते,
“निवाण” जान वह है गुरु यों बताते ॥६१७॥

निद्रा न मोहतम विस्मय भी नहीं है,
ये इन्द्रियाँ जड़मयी जिसमें नहीं हैं ।
बाधा कभी न उपसर्गं तृष्णा क्षुधा है,
निर्वाण में सुखद बोधमयी सुधा है ॥६१८॥

चिन्ता नहीं उपजती चिति में जरा सी,
नोकर्म भी नहिं, नहीं वसु कर्म राशि ।
होते जहाँ नहि शुभाशुभ ध्यान चारों,
निर्वाण है वह रहा तुम यों विचारो ॥६१९॥

कंवल्य-बोध सुख दर्शन वीर्य वाला,
आत्मा प्रदेशमय मात्र अमूर्त शाला ।
निर्वाण में निवसता निज नीनिधारी,
अमितत्व से विलसता जग आर्तहारी ॥६२०॥

पाते महर्षि कृष्णि मन्त्र जिंगे, वहाँ है,
निर्वाण सिद्धि शिव मोक्षमही मही है ।
लोकाग्र है गुरु श्रवाधक, क्षेम प्यारा,
वन्दू उसे विनय में वम वार-वारा ॥६२१॥

एरण्डवीज महमा जव मूख जाता,
है ऊर्ध्वं हो नियम मे उडता दिखाता ।
हो पंक लिप्त जल मे वह दृव जाती,
तुम्ही संपंक नजती द्रुत ऊर्ध्वं आती ।

छटा हुआ धनुष से जिस भाँति बाण,
हो पूर्व योग वश हो गतिमान मान !
श्री सिद्ध जीवगति भी उस भाँति होती,
घूमाग्नि की गति समा वह ऊर्ध्वं होती ॥६२२॥

आकाश से निरवलम्ब अबाध प्यारे,
वे सिद्ध हैं अचल, नित्य, अनूप सारे ।
होते अतीद्विय पुनः भव में न आते,
हैं पुण्य-पाप विषि-हीन मुझे सुहाते ॥६२३॥



३५. द्रव्य सूत्र

ये जीव, पुद्गल, रव, धर्म, अधर्म काल,
होते जहाँ समझ लोक उसे विशाल ।
आलोक से सकल लोक अलोक देखा,
यों “वीर ने” सदुपदेश दिया सुरेखा ॥६२४॥

आकाश पुद्गल अधर्म व धर्म, काल,
चेतन्य से विकल हैं सुन भव्य बाल ।
होते अतः सब अजीव सदीव भाई,
लो जीव में उजल चेतनता सुहाई ॥६२५॥

ये पांच द्रव्य, नभ धर्म अधर्म, काल,
ओ जीव शाश्वत अमूर्ति क हैं निहाल ।
है मूर्त पुद्गल सदा सब में निराला,
है जीव चेतन निकेतन बोधशाला ॥६२६॥

ये जीव पुद्गल जु सक्रिय द्रव्य दो हैं,
तो शेष चार सब निष्क्रिय द्रव्य जो हैं ।
कर्माभिभूत-जड़ पुद्गल से क्रियावान्,
है जीव, कालवश पुद्गल है क्रियावान् ॥६२७॥

है एक एक नभ धर्म, अधर्म तीनों,
तो शेष शाश्वत अनन्त अनन्त तीनों ।
हैं वस्तुत. सब स्वतन्त्र स्वलोन होते,
ऐसा जिनेश कहते वमु कर्म खोते ॥६२८॥

है धर्म ओ वह अधर्म, त्रिलोक व्यापी,
आकाश तो सकल लोक अलोक व्यापी ।
है मत्त्य लोक भर में व्यवहार काल,
सर्वज के वचन हैं सुन भव्य वाल !॥६२९॥

देते हुए श्रय परस्पर में मिले हैं,
ये सर्व द्रव्य पय शक्कर से घुले हैं।
शोभे तथापि अपने-अपने गुणों से,
छोड़े नहीं निज स्वभाव युगों-युगों से ॥६३०॥

है स्पर्श, रूप, रस, गंध विहीन स्थाई,
है खण्ड-खण्ड नहि पूर्ण अखण्ड भाई ।
है नोक पूर्ण मुविशाल अमंर्य देशी,
धर्मान्तिकाय वह है मुन तू हितंषी ॥६३१॥

त्यों धर्म जीव जड़ की गनि में सहाई,
ज्यों मीन के गमन में जल होय भाई ।
ओदास्य भाव धरता नहि प्रेरणा है,
धर्मास्ति काय यह है जिन देशना है ॥६३२॥

धर्मास्तिकाय खुद ना चलता चलाता,
पै प्राणि पुद्गल चले, गति है दिलाता ।
होता न प्ररक निमित्त तथापि भाई,
च्यों रेन के गमन में पटरी महाई ॥६३३॥

है धर्म द्रव्य उम भाँति अधर्म द्रव्य,
कोई क्रिया न करता मुन भद्र ! भव्य !
ओदास्य भाव धरती-सम धार लेता,
ज्यों प्राणि पुद्गल स्के स्थितिदान देता ॥६३४॥

आकाश व्यापक अचेतन भावधाना,
होता पदार्थ दल का अवगाहदाता ।
भाई अमृत नभ के फिर भेद दो हैं,
है एक लोक, इक दीर्घ अलोक सो है ॥६३५॥

जीवादि द्रव्य छह ये मिलते जहाँ हैं,
माना गया अमित लोक यही यहाँ है ।
आकाश केवल अलोक वही कहाता,
यों ठीक-ठीक यह छन्द हमें बताना ॥६३६॥

है स्पर्श रूप रम गन्ध विहीन होता,
मंवर्त्तनामय सुलक्षण जो कि होता ।
है धारता गुण सदा अगुम्लघ को,
है काल स्वीकृत यही जग के प्रभ को ॥६३७॥

है हो रहा नित अचेतन पुद्गतो में,
धारा-प्रवाह एविवर्तन चेतनों में ।
वो काल का नग प्रनुग्रह तो रहा है,
वैराग्य का परम कारण हो रहा है ॥६३८॥

घटा निमेष ममयावनि जादि देखो,
होते प्रभेद जिसमें सहसा ग्रनें ।
होता वही ममय मे व्यवहार राल,
है बीतराग जिनका मत है निहाल ॥६३९॥

दो भेद, नकन्ध, अणु पुद्गत के मिलानों,
इनकन्ध भेद छह दो अणु के मजानो ।
है कायं स्पष्ट अणु कारण स्पष्ट दूजा
पै चर्म चक्षु अणु की करती न प्रजा ॥६४०॥

है स्थूल-स्थूल, फिर स्थूल, व स्थूल सूक्ष्म,
औ सूक्ष्म स्थूल पुनि सूक्ष्म सुसूक्ष्म सूक्ष्म ।
भू, नीर, प्रानप, हवा, विधि-वर्णणायें,
ये हैं उदाहरण मन्धन के गिनाये ॥६४१॥

किवा धरा सलिल, लोचन गम्य छाया,
नासादि के विषय पुद्गल कर्म माया ।
अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु, छहो यहाँ ये,
है स्कन्ध भेद जड़ पुद्गल के बताये ॥६४२॥

जो द्रव्य होकर न इन्द्रिय गम्य होता,
है आदि मध्य अह अन्त विहीन होता ।
है एक देश रखता अविभाज्य भाता,
ऐसा कहे जिन यही परमाणु गाथा ॥६४३॥

जो स्कन्ध में वह क्रिया अणु में इसी से,
तू जान पुद्गल सदा अणु को खुशी से ।
स्पर्शादि चार गुण पुद्गल धार पाता,
है पूरता पिघलता पर स्पष्ट भाता ॥६४४॥

ओ जीव है, विगत में चिर जी चुका है,
जो चार प्राण धर के अब जी रहा है ।
आगे इसी तरह जीवन जी सकेगा,
उच्छ्वास-आयु-बल इन्द्रिय पा लसेगा ॥६४५॥

विस्तार संकुचन शक्तितया शरीरी,
छोटा बड़ा तन प्रमाण दिले विकारी !
पै छोड़ के ससुद्धात दशा हितंषी !
हैं वस्तुतः सकल जीव असंख्य देशी ॥६४६॥

ज्यों दूध में पतित माणिक दूध को ही,
है लाल-लाल करता सुन मूढ़ मोही !
त्यों जीव देह स्थित हो निज देह को ही,
सम्यक् प्रकाशित करें नहिं अन्य को ही ॥६४७॥

आत्मा तथापि वह ज्ञान प्रमाण भाता,
है ज्ञान भी सकल ज्ञेय प्रमाण साता ।
है ज्ञेय तो अमित लोक अलोक सारा,
भाई अतः निखिल व्यापक ज्ञान प्यारा ॥६४८॥

ये जीव हैं द्विविध, चेतन धाम सारे,
संसारि मुक्त द्विविधा उपयोग धारे ।
संसारि जीव तनधारक हैं दुखी हैं,
हैं मुक्त-जीव तन-मुक्त तभी मुखी हैं ॥६४९॥

पृथ्वी जलानन्द समीर तथा नतायें,
एकेंद्रि-जीव सब स्थावर ये कहायें ।
हैं धारते करण दो, त्रय, चार, पाँच,
शंखादि जीव त्रम हैं करते प्रपञ्च ॥६५०॥



३६. सूचि सूत्र

हे वस्तुतः यह अकृत्रिम लोक भाता,
आकाश का ही इक भाग अहो ! कहाता !
भाई अनादि अविनश्वर नित्य भी है,
जीवादि द्रव्य दल पूरित पूर्ण भी है ॥६५१॥

पा योग अन्य अणु का अणु स्कन्ध होता,
है मन्मध स्थ गुण धारक चूंकि होता ।
ना शब्द रूप अणु है, इक देश धारी,
प्रत्यक्ष ज्ञान लखता “अणु” निर्विकारी ॥६५२॥

ये मूर्खम स्थूल द्यणुकादिक स्कन्ध सारे,
पृथ्वी जलादिन मरुतादिक रूप धारे ।
कोई इन्हें न ऋषि ईश्वर ही बनाते,
पै स्वीय शक्ति वश ही बनते मुहाते ॥६५३॥

सूक्ष्मादि स्कन्ध दल से त्रय लोक मारा,
पूरा ठसाठस भरा प्रभु ने निहारा ।
है योग स्कन्ध उनमें विधि रूप पाने,
होते अयोग्य कुछ हैं समझो सयाने ॥६५४॥

ज्यों जीव के विकृत भाव निमित्त पाती,
वे वर्णणा विधिमयी विधि हो सताती ।
आलमा उन्हें न विधिरूप हठात् बनाता,
होता स्वभाववश कार्य सदा दिखाता ॥६५५॥

रागादि से निरखता यदि जानता है,
पंचेंद्रि के विषय को मन धारता है ।
रंजायमान उसमें वह ही फँगेगा,
दुष्टाष्ट कर्म-मल में चिर ओ लसेगा ॥६५६॥

सर्वत्र हैं विपुल हैं विधि वर्गणायें,
आकीर्ण पूर्ण जिनसे कि दशों दिशायें।
वे जीव के सब प्रदेशन में समाते,
रागादि भाव जब जीत्र सुधार पाते ॥६५७॥

जयों राग-रोष मय भाव स्वचित्त लाता,
है मूढ़ पामर गुभागुभ कर्म पाता।
होता तभी वह भवान्तर को रवाना,
ले साथ ही नियम में विधि के खजाना ॥६५८॥

प्राचीन कर्म वश देह नवीन पाते,
संसारिजीव पुनि कर्म नये कमाते।
यों बार-बार कर कर्म दुखी हुए हैं,
वे कर्म-बन्ध तज सिद्ध मुखी हुए हैं ॥६५९॥

दोहा

“तत्त्व दर्शन” यही रहा निज दर्शन का हेतु,
जिन दर्शन का सार है भवसागर के मेनु ।

(तृतीय स्कण्ड समाप्त)



स्याद्वाद, उत्तर्ण सूण

३७. अनेकान्त सूत्र

जो विश्व के विविध कार्य हमें दिखाते,
भाई बिना ही जिसके चल वे न पाते ।
नैकान्तवाद वह है जगदेक स्वामी,
वन्दृं उमे विनय मे शिव पन्थगमी ॥६६०॥

आधार द्रव्य गुण का इक द्रव्य का ही,
आधार ले गुण लसे शिव राह राही ।
पर्याय द्रव्य गुण आश्रित हैं कहाते,
ये वीर के वचन ना जड़ को सुहाते ॥६६१॥

पर्याय के बिन कहीं नहि द्रव्य पाता,
तो द्रव्य के बिन न पर्यय भी सुहाता ।
उत्पात ध्रौव्य व्यय लक्षण द्रव्य का है,
यों जान, लाभ झट लूं निज द्रव्य का मैं ॥६६२॥
उत्पाद भी न व्यय के बिन दीख पाता ।
उत्पाद के बिन कहीं व्यय भी न भाता,
उत्पाद और व्यय ना बिन ध्रौव्य के हो,
विश्वास ईदृश न किन्तु अभव्य के हो ॥६६३॥
उत्पाद ध्रौव्य व्यय हो इन पर्ययों में,
हो द्रव्य में नहिं तथा उसके गुणों में ।
पर्याय हैं नियत द्रव्यमयी, तभी हैं,
वे द्रव्य ही कह रहें गुरु यों सभी हैं ॥६६४॥
है एक ही समय में त्रय भाव ढोता,
उत्पाद ध्रौव्य व्यय धारक द्रव्य होता ।
तीनों अतः नियत द्रव्य यथार्थ में हैं,
योगी कहें रत स्वकीय षदार्थ में हैं ॥६६५॥

पर्याय एक नशतो जब लों जहाँ है,
तो दूसरी उपजती तब लों वहाँ है ।
पै द्रव्य है ध्रुव त्रिकाल अबाध भाता,
ना जन्मता न मिटता यह शास्त्र गाता ॥६६६॥

पौरुष्य तो पुरुष में इक सार पाता,
ने जन्म से मरण लौ नहिं छोड़ जाता ।
वार्धक्य औ शिशु किशोर युवा दशाये,
पर्याय है जनमती मिटती सदा ये ॥६६७॥

पर्याय जो सदृश द्रव्यन की सुहाती,
सामान्य नाम वह निश्चित धार पाती ।
पर्याय हो विसदृशा वह हो विशेषा,
ये द्रव्य को तज नहीं रहती निमेपा ॥६६८॥

सामान्य और सविशेष द्विधर्म वाला,
हो द्रव्य ज्ञान जिसको लग्नता मुचाग ।
मध्यकृत्व का वह सुसाधक बोध होता,
मिथ्यात्व मित्र, आर्य मित्र ! कुबोध होता ॥६६९॥

हो एक ही पुरुष भानज तात भाई,
देता वही मुत किसी नय मे दिखाई ।
पै भ्रात नात मृत श्रो मवका न होता,
है वन्नु धर्म इस भाँति अशाँति खोता ॥६७०॥

जो निविकल्प मविकल्प द्विधर्म वाला,
है शोभता नर मनो शशि हो उजाना ।
एकान्त मे यदि उसे इक धर्मधारी,
जो मानता वह न आगम बोध धारी ॥६७१॥

पर्याय नैक विष यद्यपि हो तथापि,
भाई विभाजित उन्हें न करो कदापि ।
वे क्षीर नीर जब आपस में मिलेंगे,
ओ 'नीर' 'क्षीर' 'यह' यों किर क्या कहेंगे ? ॥६७२॥

निःशंक हो समय में तज मान सारा,
स्याद्वाद का विनय से मुनि ले सहारा ।
भाषा द्विधाज्ञुभय सत्य सदेव बोले,
निष्पक्ष भाव धर शास्त्र रहस्य खोले ॥६७३॥



३८. प्रमाण सूत्र

संभोह-संध्रम-ससंशय हीन प्यारा,
कल्यान सान वह जान प्रमाण प्याला !
माना गया स्वपर भाव प्रभाव दर्शी,
साकार नैकनिध शाश्वत सौख्य स्पर्शी ॥६७४॥

सज्जान पंचविध ही मति जान प्यारा,
दूजा श्रुतावधि तृतीय मुधा मुघारा ।
चौथा पुनीत मनपर्यय जान मानूं,
है पांचवाँ परम केवल जान-भानु ॥६७५॥

सज्जान पंच विध ही गुरु गा रहे हैं,
लेके सहार जिसका शिव जा रहे हैं ।
सम्पूर्ण क्षायिक सुकेवल जान नामी,
चारों क्षयोपशमिका अवशेष स्वामी ॥६७६॥

ईहा, अपोह, मति, शक्ति, तथैव सज्जा,
मीमांस, मार्गण, गवेषण और प्रज्ञा ।
ये सब ही अभिनि वोधिक जान आई,
पूजो इसे वम यही शिव-सौख्य दाई ॥६७७॥

आधार ने विषय का मति के जनाना—
जो अन्य द्रव्य, श्रुत जान वही कहाता ।
ओ लिंगशब्दज तया श्रुत ही द्विधा है,
होता नितान्त मतिपूर्वक ही मुधा है ॥
है मुम्ब्य शब्दज जिनागम म कहाता,
जो भी उमे उर घरे भव पार जाता ॥६७८॥

पाके निमित्त मन इन्द्रिय का, अधारी,
होता प्रसूत श्रुत ज्ञान श्रुतानुसारी ।
है आत्म-तत्त्व पर-सम्मुख धापने में,
स्वामी समर्थ श्रुत ही मति जानने में ॥६७९॥

हो पूर्व में मति सदा श्रुत बाद में हो,
ना पूर्व में श्रुत कभी मति बाद में हो ।
होती 'पृ' धातु परिपूरण पालने में,
हो पूर्व में मति अतः श्रुत पूरणे में ॥६८०॥

सीमा बना समय आदिक की सयाने !
रूपी पदार्थ भर को इकडेश जाने ।
जो ऋयात भाव-गुण प्रत्यय से ससीमा,
माना गया अवधिज्ञान वही सुधी मान ! ॥६८१॥

है चित्त चितित अचितित चितता है,
या सार्ध चितित नृलोकन में यहाँ है ।
जो जानता बस उसे शिव सौम्य दाता,
प्रत्यक्ष जान मन पर्यय नाम पाता ॥६८२॥

शुद्धक औ सब, अनन्त विशेष आदि,
ये अर्थ हैं सकल केवल के अनादि ।
केवल्य ज्ञान इन सर्व विशेषणों में,
शोभे अतः भज उसे, बच दुर्गुणों से ॥६८३॥

जो एक साथ सहसा बिन रोक-टोक,
है जानता सकल लोक तथा अलोक ।
'केवल्य ज्ञान', जिसको नहिं जानता हो,
ऐसा गतागत अनागत भाव ना हो ॥६८४॥

(आ) प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाण

वस्तुत्व तो नित नितान्त अबाध भाता
सम्यक्तया सहज ज्ञान उसे जनाता ।
होता प्रमाण वह ज्ञान अतः सुषा है,
प्रत्यक्ष पावन परोक्षतया द्विधा है ॥६८५॥

ये धातु दो अशु तथा अश जो कहाती,
व्याप्त्यर्थ में अशन में क्रमशः सुहाती ।
है अक्ष शब्द बनता सहसा इन्हीं से,
ऐसा सदा समझ तू नहिं औ किसी से ॥
है जीव अक्ष जग वैभव भोगता है,
सर्वार्थ में सहज व्याप सुशोभता है ।
तो अक्ष से जनित ज्ञान वही कहाता,
प्रत्यक्ष है त्रिविधि, आगम यों बताता ॥६८६॥

द्रव्येद्रियाँ मनस पुद्गलभाव धारें,
हैं अक्ष में इसलिए अति भिन्न न्यारे ।
मंजात ज्ञान इनसे वह ठीक वैसा,
होता परोक्ष बम लिंगज ज्ञान जैसा ॥६८७॥

होते परोक्ष मति औ श्रुत जीव के हैं,
ओचित्य है परनिमित्रक क्योंकि वे हैं ।
किवा अहो परनिमित्रक हो न कैसे ?
हो प्राप्त-अर्थ-स्मृति से अनुमान जैसे ॥६८८॥

होता परोक्ष श्रुत लिंगज ही, महान—
प्रत्यक्ष हो अवधि आदिक तीन ज्ञान ।
स्वामी ! प्रसूत मति, इंद्रिय चित्र से जो,
प्रत्यक्ष संव्यवहरा उपचार से हो ॥६८९॥

३६. नय सूत्र

द्रव्यांश को विषय है अपना बनाता,
होता विकल्प श्रुत धारक का सुहाता ।
माना गया नय वही श्रुत भेद प्यारा,
ज्ञानी वही कि जिसने नय ज्ञान धारा ॥६९०॥

एकान्त को यदि पराजित है कराना,
भाई तुम्हें प्रथम है नय ज्ञान पाना ।
स्याद्वाद बोध नय के बिन ना निहाला,
चाबी बिना नहिं खुले गृह-द्वार ताला ॥६९१॥

ज्यों चाहता वृष बिना 'जड़' मोक्ष जाना,
किवा तृषी जल बिना हि तृषा बुझाना ।
त्यों वस्तु को समझना नय के बिना ही,
है चाहता अबुध ही भवराह राही ॥६९२॥

तीर्थेश का वचन सार द्विधा कहाता,
सामान्य आदिम द्वितीय विशेष भाता ।
दो द्रव्य पर्यंतया नय हैं उन्हीं के,
ये ही यथाक्रम विवेचक भद्र दीखे ॥
भेदोपभेद इनके नय शेष जो भी,
तू जान ईदृश सदा तज लोभ लोभी ! ॥६९३॥

सामान्य को विषय है नय जो बनाता,
तो शून्य ही वह 'विशेष' उसे दिखाता ।
जो जानता नय सदैव विशेष को है,
सामान्य शून्य दिखता सहसा उसे है ॥६९४॥

द्रव्यार्थि की नय सदा इस भाँति गाता,
है द्रव्य तो ध्रुव त्रिकाल अबाध भाता ।
पै द्रव्य है उदित होकर नष्ट होता,
पर्याय आर्थिक सदा इस भाँति रोता ॥६९५॥

द्रव्यार्थि के नयन में सब द्रव्य आते,
पर्याय अर्थिवश पर्यंय मात्र भाते ।
एकसरे हमें हृदय अंदर का दिखाती,
तो कैमरा शकल ऊपर की बताती ॥६९६॥

पर्याय गौण कर द्रव्यन को जनाता,
द्रव्यार्थि की नय वही जग में कहाता ।
जो द्रव्य गौण कर पर्यंय को जनाता,
पर्याय अर्थिक वही यह शास्त्र गाता ॥६९७॥

जो शास्त्र में कथित नैगम, संग्रहा रे !
है व्यावहार क्षजु सूत्र सशब्द प्यारे ।
एवंभुता समभिरूढ़ उन्हीं द्वयों के,
है भेद मूल नय सात, विवाद रोके ॥६९८॥

द्रव्यार्थि की सुनय आदिम तीन प्यारे,
पर्याय अर्थिक रहें अवशेष मारे ।
हैं चार आदिम पदार्थ प्रधान जानो,
हैं शेष तीन नय शब्द प्रधान मानो ॥६९९॥

सामान्य ज्ञान इतरोभय रूप ज्ञान,
प्रस्त्र्यात नंक विध है अनुमान ! मान !
जानें इन्हें सुनय नैगम है कहाता,
मानो उसे नयिक ज्ञान अतः सुहाता ॥७००॥

जो भूत कार्य इस सांप्रत से जुड़ाना,
है भूत नैगम वही गुह का बताना ।
वर्षों पुरा शिवगये युगवीर प्यारे,
मानें तथा पि हम 'आज उषा' पधारे ॥७०१॥

प्रारम्भ कार्य भर को जन पूछने से,
'पूरा हुआ' कि कहना सहसा मजे से ।
ओ वर्तमान नय नैगम नाम पाता,
ज्यों पाक के समय ही बस भात भाता ॥७०२॥

होगा, अभी नहिं हुआ फिर भी बताना,
लो ! कार्य पूरण हुआ रट यों लगाना ।
भावी सुनैगम यही समझो सुजाना,
जैसा उगा रवि न किन्तु उगा बताना ॥७०३॥

कोई विरोध बिन आपस में प्रबुद्ध !
सत् रूप से सकल को गहता 'विशुद्ध'
जात्येक भेद गहता उनमें 'अशुद्ध',
यों है द्विधा सुनय संग्रह पूर्ण सिद्ध ॥७०४॥

संप्राप्त संग्रहतया द्विधा पदार्थ—
जो है प्रभेद करता उसका यथार्थ ।
ओ व्यावहार नय भी द्विधा, स्ववेदी,
'शुद्धार्थ भेदक' अशुद्ध पदार्थ भेदी ॥७०५॥

जो द्रव्य में ध्रुव नहीं पल आयुवाली,
पर्याय हो नियत में बिजली निराली ।
जाने उसे कि ऋजु सूत्र सुसूक्ष्म भाता,
होता यथा क्षणिक शब्द सुनो सुहाता ॥७०६॥

देवादिपर्यय निजी स्थिति लौं सुहाता,
जो देव रूप उसको तब लौं जनाता ।
तू मान स्थूल ऋजु सूत्र वही कहाता,
ऐसा यहाँ श्रमण सूत्र हमें बताता ॥७०७॥

जो द्रव्य का कथन है करता, बुलाता,
आव्हान शब्द वह है जग में सुहाता ।
तत्-शब्द-अर्थ-भर को नय जो गहाता,
ओ हेतु तुल्य-नय शब्द अतः कहाता ॥७०८॥

एकार्थ के वचन में वच लिग भेद,
है देख शब्दनय ही करतार्थ भेद ।
पुंलिग में व तियलिगन में मुचारा,
ज्यों पुष्य शब्द बनता “नम छत्र नारा” ॥७०९॥

जो शब्द व्याकरण-सिद्ध, सदा उसी में
होता तदर्थ अभिस्फृट न ओ किसी में ।
स्वीकारना वस उसे उस शब्द ढारा
है मात्र शब्दनय का वह काम सारा ।
ज्यों देव शब्द सुन आशय ‘देव’ लेना,
भाई तदर्थ गहना तज शेष देना ॥७१०॥

प्रत्येक शब्द अभिस्फृट म्बर्थ में हो,
प्रत्येक अर्थ अभिस्फृट म्बशब्द में हो ।
है मानता समभिस्फृट मदेव ऐसे,
ये शब्द इन्दर पुरन्दर शक जैसे ॥७११॥

शब्दार्थ स्प अभिस्फृट पदार्थ ‘भूत’,
शब्दार्थ मे म्बलित अर्थ अतः ‘अभूत’ ।
एवंभूता सुनय है इस भाँति गाता,
शब्दार्थ तत् पर विशेष अतः कहाता ॥७१२॥

जो-जो क्रिया जन तनादितया करें ओ !
तत्-तत् क्रिया गमक शब्द निरे निरे हो !
एवंभूता नय अतः उस शब्द का है,
सम्यक् प्रयोग करता जब काम का है ।
जैसा सुसाधु रत साधन में सही हो,
स्तोता तभी कर रहा स्तुति स्तुत्य की हो ॥७१३॥



४०. स्याद्वाद सप्त भंगी सूत्र

हो 'मान' का विषय या नय का भले हो,
दोनों परस्पर अपेक्ष लिये हुए हो ।
सापेक्ष है विषय औ तब ही कहाता,
हो अन्यथा कि इससे निरपेक्ष भाता ॥७१४॥

एकान्त का नियति का करता निषेध,
है सिद्ध जाश्वत निपाततया "अवेद" ।
स्यात् शब्द है वह जिनागम में कहाता,
सापेक्ष सिद्ध करता सबको सुहाता ॥३१५॥

भाई प्रमाण-नय-दुर्नय-भेद वाले,
हैं सप्त भंग बनते, क्रमवार न्यारे ।
'स्यात्' की अपेक्ष रखने परमाण प्यारे !
शोभे नितान्त नय से नयभंग मारे ॥
सापेक्ष दुर्नय नहीं, निरपेक्ष होते,
एकान्त पक्ष रखते दुःख को मजोते ॥३१६॥

स्यादस्ति, नाम्नि उभयाऽवकतव्य चौथा,
भाई त्रिधा अवकनव्य तथैव होता ।
यों सप्त भंग लसते परमाण के है,
ऐसा कहें जिनप आलय ज्ञान के है ॥३१७॥

क्षेत्रादिरूप इन न्वीय चतुष्टयों में,
ग्रन्ति स्वरूप सब द्रव्य युगों-युगों में ।
क्षेत्रादि रूप परकीय चतुष्टयों में,
नास्ति स्वरूप प्रतिपादित साधुओं में ॥३१८॥

जो स्वीय औ परचतुष्टय से सुहाती,
स्यादस्तिनास्तिमय वस्तु वही कहाती ।
ओ एक साथ कहते द्वय धर्म को है,
तो वस्तु हो अवकतव्य प्रमाण सो है ॥
यों स्वीय स्वीय नय संग पदार्थ जानो,
तो सिद्ध हो अवकतव्य त्रिभंगम नो ॥७१९॥

एकैक भंग मय ही सब-द्रव्य भाते,
एकान्त से सतत यों रट जो लगाते ।
वे सात भंग तब दुर्नय-भंग होते,
स्यात् शब्द से सुनय से जब दूर होते ॥७२०॥

ज्यों वस्तु का पकड़ में इक धर्म आता,
तो अन्य धर्म उसका स्वयमेव भाता ।
वे क्योंकि वस्तुगत धर्म, अतः लगाओ,
'स्यात्' सप्त भंग सब में झगड़ा मिटाओ ॥७२१॥

४१. समन्वय सूत्र

जो जान यद्यपि परोक्षतया जनाता,
नैकान्तर्घण्ड सबको फिर भी बताता ।
हे संशयादिक प्रदोष-विहीन साता,
तू जान मान “श्रुत ज्ञान” वही कहाता ॥७२२॥

जो वस्तु के इक अपेक्षित धर्म द्वारा,
साधे मुकार्य जग के, नय औ पुकारा ।
ओ भेद भी नय वही श्रुत ज्ञान का है,
माना गया तनुज भी अनुमान का है ॥७२३॥

होते अनन्त गुण धर्म पदार्थ में हैं,
पै एक को हि चुनता नय ठीक से है ।
तत्काल क्योंकि रहती उमकी अपेक्षा,
हो शेष गौण गुण, ना उनकी उपेक्षा ॥७२४॥

सापेक्ष ही मुनय हो मुख को सँजोते,
माने गये कुनय हैं निरपेक्ष होते ।
संपन्न हो मुनय से व्यवहार मारे,
नौका समान भव पार मुझे उतारे ॥७२५॥

ये वस्तुतः वचन हैं जितने मुहाने,
हे भव्य जान नय भी उतने हि पाते ।
मिथ्या अतः नय हटी कुपथप्रकाशी,
सापेक्ष सत्य नय मोह-निशा विनाशी ॥७२६॥

एकान्तपूर्ण कुनयाथित पंथ का वे,
स्याद्वाद विज्ञ परिहार करें करावें ।
ओ स्वाति लाभ वश जैन बना हटी हो,
ऐसा पराजित करो पुनि ना बूटी हो ॥७२७॥

सच्चे मभी नय निजी विषयों स्थलों में,
झूठे परम्पर लड़े निशि वासरों में।
ये सत्य वे सब असत्य कभी अमानी,
ऐसा विभाजित उन्हें करते न जानी ॥७२६॥

ना वे मिले, यदि मिले तुम हो मिलाते,
सच्चे कभी कुन्य पै बन है न पाते।
ना वस्तु के गमक हैं उनमें न बोधि,
सर्वस्व नप्ट करते रिपु मे विरोधी ॥७२९॥

सारे विरुद्ध नय भी बन जाय अच्छे।
स्याद्‌वाद की शरण ले कहलाय सच्चे !
पाती प्रजा बल प्रजापति छत्र में ज्यों,
दोषी अदोष बनते मुनि संघ में ज्यों ॥७३०॥

होते अनन्त गुण द्रव्यन में सयाने,
द्रव्यांश को अबुध पूरण द्रव्य माने।
छू अंग अंग गज के प्रति अंग को ही,
ज्यों अंघ वे गज कहें, अयि भव्य मोही ! ॥७३१॥

सर्वांगपूर्ण गज को दृग से जनाता,
तो सत्य ज्ञान गज का उसका कहाता।
सम्पूर्ण द्रव्य लखता सब ही नयों से,
है सत्य ज्ञान उसका स्तुत साधुओं से ॥७३२॥

संसार में अमित द्रव्य अकथ्य भाते,
श्री वीर देव कहते मित कथ्य पाते।
लो कथ्य का कथित भाग अनन्तवाँ है,
जो शास्त्र रूप वह भी बिखरा हुआ है ॥७३३॥

निन्दा तथापि नित जो पर के पदों की,
शंसा अतीव करते अपने मतों की ।
पांडित्य, पूजनयशार्थ दिखा रहे हैं,
संसार को सधन और बना रहे हैं ॥७३४॥

संसार में विविध कर्म-प्रणालियाँ हैं,
ये जीव भी विविध औ उपलब्धियाँ हैं ।
भाई अतः मत विवाद करो किसी से,
साध्वीमि से अनुज से पर से अरी से ॥७३५॥

है भव्यजीव-मति गम्य जिनेन्द्र-वाणी,
पीयूष - पूरित पुनीत - प्रशांति - खानी ।
सापेक्ष - पूर्ण - नय - आलय पूर्ण साता,
आसूर्य जीवित रहे जयवन्त माता ॥७३६॥

४२. निक्षेप सूत्र

कोई प्रयोजन रहे तब युक्ति साथ,
ओचित्य पूर्ण पथ में रखना पदार्थ ।
'निक्षेप' है समय में वह नाम पाता,
नामादि के बग चतुर्विध है कहाता ॥७३७॥

नाना स्वभाव अवधारक द्रव्य प्यारा,
जो ध्येय ज्ञेय बनता जिस भाव द्वारा ।
तद्भाव की वजह में इक द्रव्य के ही,
ये चार भेद बनते सुन भव्य देही ! ॥७३८॥

ये नाम स्थापन व द्रव्य स्वभाव चारों,
निक्षेप है तुम इन्हें मन में सुधारो ।
है नाम मात्र बस द्रव्यन की मुसंज्ञा,
है नाम भी द्विविध व्यात, कहे निजज्ञा ॥७३९॥

आकार औ इनर 'स्थापन' यों द्विधा है,
अहंत बिम्ब कृत्रिमेतर आदि का है ।
आकार के बिन जिनेश्वर स्थापना को,
तू दूसरा समझ रे ! तज वासना को ॥७४०॥

जो द्रव्य को गत अनागत भाव बाला,
स्वीकारना कर मुसांप्रत गौण सारा ।
निक्षेप द्रव्य वह आगम में कहाता,
विश्वास मात्र उसमें बस भव्य नाता ॥
निक्षेप द्रव्य, द्विधा वह है कहाता,
नोआगमागमतया सहसा सुहाता ।
ना शास्त्रलीन रहता, जिन शास्त्र ज्ञाता,
ओ द्रव्य आगम जिनेश तदा कहाता ॥

नो आगमा त्रिविध “ज्ञायक देह” भावी,
ओ “कर्म रूप” जिन यों कहते स्वभावी ।
हे भव्य तू समझ ज्ञायक भी त्रिधा है,
जो भूत सांप्रत भविष्यतया कहा है ॥
ओ त्यक्त च्यावित तथा च्युत यों त्रिधा है,
ओ “भूत ज्ञायक” जिनागम मे लिखा है ॥

शास्त्रज्ञ की जड़मयी उस देह को ही,
तदरूप जो समझना अर्थि भव्यमोही ।
माना गया कि वह “ज्ञायक देह” भेद,
ऐसा जिनेश कहते जिनमें न भेद ॥
नीतिज्ञ के मृतक केवल देह को ले,
लो “नीति” ही मर चुकी जिस भाति बोले ॥

जो द्रव्य की कल दशा बन जाय कोई,
तदरूप आज लखना उस द्रव्य को ही ।
श्री वीर के समय में बग “भावि” सोही,
राजा यथा समझना युवराज को ही ॥

कर्मानुसार अथवा जग मान्यता ले,
रे ! वस्तु का ग्रहण जो कर ले करा ले ।
है “कर्म भेद” वह निश्चित ही कहाता,
ऐसा “वसन्त निनका” यह छन्द गाता ॥

देवायु कर्म जिमने बस नाँध पाया,
ज्यों आज ही समझना यह “देव राया” ।
या पूर्ण कुम्भ कलदर्पण आदि भाते,
लोकोपचारवश मंगल ये कहाते ॥७४१-७४२॥

हे द्रव्य सांप्रत दशामय यों बताता,
निक्षेप “भाव” वह आगम में कहाता।
नोग्रागमाङ्गमतया वह भी द्विधा है,
वाणी जिनेन्द्र कथिता कहती सुधा है ॥

आत्मोपयोग जिन आगम में लगाता,
अर्हन् उसी समय है जिन शास्त्र-ज्ञाता।
तो “भाव आगम” नितान्त यही रहा है,
ऐसा यहाँ श्रमण सूत्र बता रहा है ॥

अर्हन्त के गुण सभी प्रकटे जभी से,
अर्हन्त देव उनको कहना तभी से।
है केवली जब उन्हीं गुण धार ध्याता,
“नोग्रागमा” वह जिनागम में कहाता ॥७४३-७४४॥



४३. समापन

अहंन् प्रभो ! अभित दर्शन-ज्ञान-स्पर्शी,
वे 'आतृ पुत्र' निखिलज, अनन्तदर्शी ।
'वैशालि में' जन्म सन्मति ने लिया था,
धर्मोपदेश इस भाँति हमें दिया था ॥७४५॥

श्री वीर ने सुपथ यद्यपि था दिखाया,
था कोटिशः सदुपदेश हमें सुनाया ।
धिक्कार ! किन्तु हमने उसको सुना ना,
मानो ! सुना पर कभी उसको गुना ना ॥७४६॥

जो साधु आगति-अनागति कारणों को,
पीड़ा प्रमोदप्रद आत्मव-संवरों को ।
श्री जन्म को मरण को निज के गुणों को,
त्रैलोक्य में स्थित अजाइवत शाश्वतों को ॥

ओं स्वर्गं को नरक को दुख निजंरा को,
हैं जानते च्यवन को उपपादता ओ ।
श्री मोक्ष-पंथ प्रतिपादन कार्य में है,
वे योग्य, वंदन त्रिकाल कर्व उन्हें मे ॥७४७-७४८॥

वाणी सुभाषित मुझा, युचि 'वीर' की है,
थी पूर्व प्राप्त न, अपूर्व अभी मिली है ।
क्यों मृत्यु मे फिर डरूँ, तज सर्व ग्रंथि,
मैं हो गया जब प्रभो ! शिव-पंथ-पंथी ॥७४९॥



४४. वीर-स्तवन

सम्यक्त्व-बोध-न्रत पावन-भील न्यारे,
मेरे रहें शरण संयम शील सारे ।
लूँ वीर की शरण भी मम प्राण प्यारे,
नौका समान भव पार मुझे उतारें ॥७५०॥

निर्गन्थ हैं अभय वीर अनन्त ज्ञानी,
आत्मस्थ हैं अमल हैं कर आयु हानि ।
मूलोत्तरादिगुण धारक विश्वदर्शी,
विद्वान् 'वीर' जग में जग चित्त हर्षी ॥७५१॥

सर्वज्ञ हैं अनियताचरणावलम्बी,
पाया भवाम्बुद्धिका तट स्वावलम्बी ।
हैं अग्नि से निशि नशा स्वपरप्रकाशी,
हैं "वीर" धीर रवितेज अनंतदर्शी ॥७५२॥

ऐरावता वर गजों हरि ज्यों मृगों में,
गंगा नदों गहड़ श्रेष्ठ विहंगमों में ।
निर्बाणवादि मनुजों मुनि साधुओं में,
त्यों 'ज्ञातृपुत्र' वर 'वीर' मुमुक्षुओं में ॥७५३॥

ज्यों श्रेष्ठ सत्य वचनों वच कर्ण-प्रीय,
दानों रहा 'अभय दान' समर्च्यनीय ।
है ब्रह्मचर्य तप उत्तम सत्तपों में,
त्यों ज्ञातृपुत्र श्रमणेश धरातलों में ॥७५४॥

हैं जन्मते कब कहां जग जीव सारे,
जानो जगद्गुरु ! तुम्हीं जगदीश ! प्यारे ।
धाता पितामह चराचर मोदकारी,
हे ! लोकबन्धु भगवन् ! जय हो नम्हारी ॥७५५॥

संसार के गुरु रहें जयवन्त नामी !
तीर्थेश अंतिम रहें जयवन्त स्वामी !
विज्ञान स्रोत जयवन्त रहें ममात्मा,
वे “बीरदेव” जयवन्त रहें महात्मा ॥३५६॥

दोहा

मेरे वादविवाद को निर्विवाद स्याद्वाद,
सब बादों को खुश करे पुनि-पुनि कर भंत्राद ॥

चतुर्थ खण्ड समाप्त



मूल काम्य हो

गुरु स्मृति-स्तुति

वसन्ततिलका छन्द

मैं आपकी सदुपदेश मुधा न पीता,
जाती लिखी न मुझसे यह जैनगीता ।
नेत्रक, कवि मैं हूँ नहीं मूर्खमें कुछ नहिं ज्ञान,
त्रुटियाँ हाँवें यदि यहाँ शोध पढ़ें धीमान ॥१॥

मंगल कामना

दोहा

दो ज्ञानसागर गुरो ! मुझको मुविद्या ।
'विद्यादिसागर' बन् तज दूँ अविद्या ॥२॥
यही प्रारंभ नीर मे अनुनय मे कर जोर ।
हरी भरी दिव्यता रहे धरती चारों ओर ॥३॥

मरहम पड़ी बाप के बृज का कर उपचार ।
ऐगा यदि ना बन सका, डंडा तो मत मार ॥४॥

फूल विद्यागर पन्थ में पर-प्रति बन अनुकूल ।
शूल विद्याकर भूल मे मत बन तू प्रतिकूल ॥५॥
तजो रजो गुण, माम्य को सजो, भजो निज धर्म ।
धर्म मिन, भज दुष्म मिटे, आशु मिटे वसु कर्म ॥६॥

ही मे भो की ओर ही वहें सभी हम लोग ।
द्वह के आगे तीन हो विश्व गांति का योग ॥७॥



जिनके चरणों में बैठकर ग्राचार्य श्री ने
— जैन गीता पूर्ण की —

१५०० वर्ष प्राचीन १५ फुट ऊँची, अद्भुत, आकर्षक
मनोज, अनिश्चयकारी पद्मासन प्रतिमा
श्री दिगम्बर जैन मिद्ध क्षेत्र कुन्डलपुर जो
दमोह (म.प्र.)

धर्म क्या है-

जो आज तक आपको अच्छा नहीं लगा ।

जो आज तक आपने किया नहीं-

वह धर्म है ।

,

१०८ श्रावार्य विद्यासागर

स्थान परिचय

श्रोधर केवलि शिवगये, कुण्डलिगिरि स तरं ।
धारा वर्षा योग उन, नरणन मे इम तरं ॥१८॥

'बड़े बाबा' बड़ी बृपा ती मुझ न आरीय !
पूर्ण दुई मम कामना पार जिन-आ-पिप ॥१९॥

मग गगनगति गध ती भाद्रपदी मिन तीज ।
पूर्ण हुआ यह ग्रन्थ ते भुजि मर्मन ता बोज ॥२०॥



